हिन्दी निबन्ध

राजकमल मूल्यांकन माला

हिन्दी निबन्ध

प्रभाकर माचवे

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद नई दिल्ली

भूमिका

इस माला का नाम मूल्यांकन है। 'आवश्यकता है मूल्यों के मूल्यांतरी-करण की।' फ्रेडरिख नीट्शे ने बहुत पहले ललकारा था। और उनके बाद आये मार्क्स साहब, जो लिख गए हैं कि "देअर आर नो वैल्यूज लेफ्ट; देअर इज ओनली प्राइस!" अब कोई मूल्य नहीं बचे हैं, केवल बचा है माल-भाव। जिनकी ऐसी गलत व्यापारी श्रद्धा हो कि पूँजीवादी युग की प्रखर भट्ठी में सब-कुछ सूख गया और मुरझा गया है, उनके प्रति हम क्या कहें। परन्तु हाँ, अभी भी मनुष्य के मूल में कोई मनुष्यत्व का मूल्य शेष है, और हम उसी नई मनुष्यता को प्रतिष्ठापित करने वाले हैं, ऐसा मानने वाले और उस पर चलने वाले कुछ लोग हैं। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक उन्हीं में से एक है। मूल्यों का विचार इसी दृष्टि से हम करते हैं। यहाँ कसौटी हो रही है 'हिन्दी निबन्ध' की।

ध्यान रहे कि कई लेखकों ने आलोचनात्मक निबन्ध और विशुद्ध निबन्ध को एक ही मान लिया है, और हिन्दी के बड़े-बड़े समालोचक-प्रवर इस गलती से बचे नहीं हैं। अतः यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि प्रस्तुत पुस्तक में परिभाषा का पहला प्रकरण होगा ही, परन्तु फिर भी निबन्ध-लेखकों की नामावली में अगर कोई समा-लोचनात्मक निबन्धकार छूट गए हों तो उसमें मेरा कोई दोष नहीं। निबन्ध की मेरी व्याख्या सीमित है। मैंने भी इस दिशा में कुछ कदम बढ़ाए थे, यद्यपि उसकी चर्चा अपने मुँह करना मियाँ मिट्ठू बनने के बराबर है। और हिन्दी में यह आत्म-प्रशंसावाद विपुल मात्रा में होने पर भी अभी मैं उससे बचना चाहता हूँ।

उद्धरणों के लिए तो यह लेखक बदनाम है ही। यहाँ एक और सही। आद्यनिबन्धकार माइकेल द मोंतेन के निबन्ध-संग्रह के आरम्भिक वाक्य यहाँ दूँ :

"Reader, lo here a well-meaning book. Had my intention been to forestal and purchase the world's opinion and favour, I would have safely adorned my self quaintly, or kept a more grave or solemn march. I desire therein to be delineated in mine own genuine and simple and ordinary fashion, without contention, art or study; for it is my self I portray."[1]

१. *Address from the Author to the Reader : Essays : John Florio's translation, 1603.*

"पाठक, देखो, इस किताब के पीछे इरादा भला है। अगर मेरा इरादा होता कि मैं दुनिया-भर की सम्मतियाँ और आशीर्वाद पहले ही जमा कर लूँ या खरीद लूँ, तो मैं अपने-आपको और भी अजीबोगरीब तरीके से सजाता; या बहुत गम्भीर बनकर, लम्बा चेहरा किये, आपके सामने से परेड करता हुआ निकलता। मेरी इच्छा है कि मुझे सच्चे, सीधे, सहज, साधारण रूप में ही जाना जाय, उसमें कोई लाग-लपेट, दिखावा-बनावा, छल-छन्द या नकलीपन न हो; क्योंकि मैं अपनी ही तसवीर जो उतारना चाहता हूँ।"

मैं समझता हूँ एक सच्चे निबन्धकार की भी वृत्ति इसी तरह की होती है। ऐसी दशा में उसका मूल्यांकन भी केवल सहृदय ही कर सकता है। व्यक्तिगत निबन्धों की यह विशेषता अभी भारतीय भाषाओं में प्रस्फुटित नये साहित्य में सभी ओर दिखाई नहीं देती। कहीं वे यह अपनी पूरी बहार पर हैं और कहीं उनका अंकुरित होना दिखाई दे रहा है। होना तो यह चाहिए कि हमारी पाठ्य-पुस्तकों में बजाय एक ही भाषा के निबन्ध रखने के, विभिन्न भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-कृतियों का संकलन रखा जाय, जिससे कि साहित्य का विद्यार्थी पूरे भारतीय साहित्य का स्वरूप समग्रता से ग्रहण कर सके। परन्तु उतनी परिपक्व अखिल भारतीय दृष्टि सांस्कृतिक मामलों में अभी हमें विकसित करनी है। उसका अन्दाजा इस पुस्तक के कुछ पृष्ठों में मिलेगा। मैंने १४ नवम्बर १९५४ और उसके अगले सप्ताह के 'हिन्दुस्तान' में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय कविता पर; 'आलोचना' के उपन्यास-अंक में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय उपन्यास पर; इस पुस्तक में निबन्ध पर और 'आजकल' जून '५५ में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय नाटक और रंगमंच पर विस्तार से लिखा है। भारतीय कहानी और आलोचना पर मेरे दो लेख अभी प्रकाशित होने हैं। यह मिलाकर एक समग्र कल्पना मिल सकती है।

निबन्ध क्या है और हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकारों के विकास और सद्यस्थिति पर इस पुस्तक में विवेचन है। अंग्रेजी, मराठी और कुछ भाषाओं की निबन्ध-प्रगति की चर्चा आगे के पहले अध्याय में हुई है। यहाँ हम संक्षेप में अमरीकी, फ्रेंच और रूसी साहित्य में आधुनिक निबन्ध की प्रगति का परिचय करायेंगे, और बाद में भारतीय भाषाओं में निबन्ध-साहित्य की प्रगति पर विचार करेंगे। अंग्रेजी के बाद अमरीकी साहित्य में निबन्ध एक ललित, स्वतन्त्र, मनोरंजक साहित्य-प्रकार के नाते विकसित हुआ है। फ्रांस, जर्मनी, इटली, नार्वे, स्वीडन और अन्य देशों में निबन्ध अधिकतर साहित्य-कला-समीक्षा तक सीमित रहा है। आलोचनात्मक निबन्धों की वहाँ अधिक भरमार है। रूस में तो इस प्रकार के व्यक्तिगत निबन्ध के लिए कोई स्थान ही नहीं है। या तो रिपोर्ताज हैं,

या फिर तर्क कर्कश आलोचनात्मक निबन्ध। रूसी साहित्य के पृष्ठपोषक और अन्धानुयायी हिन्दी-प्रगतिवादियों में भी कोई लघु-निबन्धकार नहीं। और वही हाल, कमोबेश, जहाँ-जहाँ सोवियत 'लन्दन के पैर' पड़े हैं, वहाँ का है।

अमरीका। एडीसन के 'स्पेक्टेटर' में जैसे त्रिपोली के एक काल्पनिक नागरिक के पत्र छपते थे, वे वाशिंगटन आयर्विंग ने लिखे थे। और वे आलिवर गोल्डस्मिथ के 'दि सिटिजन आफ़ दि वर्ल्ड' के काल्पनिक चीनी नागरिक वाले पत्रों की तरह से थे। अमरीका में निबन्ध को लोकप्रिय बनाने में इमर्सन, पो, आलिवर वेंडेल होम्स और जेम्स रसेल लावेल के नाम मुख्य हैं। इमर्सन की भाँति दूसरे आदर्शवादी निबन्धकार थौरो का प्रभाव भी प्रकृति-वर्णनात्मक निबन्ध लिखने वालों पर पड़ा है। थौरो की पुस्तक 'वाल्डेन' इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें लेखक का प्रकृति के प्रति तादात्म्य और स्वावलम्बन का स्वानुभूत बड़ी ईमानदारी और स्पष्टता से चित्रित हुआ है। जौन मूर और जौन बरोज इस क्षेत्र में दो ख्यातनामा लेखक हो चुके हैं और डोनाल्ड क्यूलरास पिएटी के 'अलमैनेक फ़ार माडर्न्स' में बहुत ऊँचे दर्जे का गद्य-लेखन मिलता है। चार्ल्स लैम्ब की शैली से अमरीका में सैम्युएल मैक्कॉर्ड क्राथर ने लिखा है, और उनकी दो पुस्तकें 'दि जेंटल रीडर' और 'ह्यूमनली स्पीकिंग' की सर्वत्र प्रशंसा हुई। इनकी तुलना में विलियम हैज़लिट की शैली के निबन्ध फ्रैंक मूर कॉल्बे के मिलते हैं। उनकी 'इमैजिनरी आब्लिगेशन्स' उनकी शैली का सबसे अच्छा नमूना है। निबन्ध-लेखिका एग्नेस रेप्लियर ने अपने चिन्तन-प्रधान निबन्धों में बहुत अच्छा नाम पाया, पर उनकी विशेषता 'बिल्ली' या 'चाय'-जैसे निबन्धों में ज़्यादा अच्छी तरह से दिखाई देती है। उनकी 'बुक्स एण्ड मेन' की भाँति 'आठ दशक' नामक संस्मरणात्मक आत्म-चरित की पुस्तक भी निबन्ध का आनन्द देती है। निबन्ध के इतिहास में और विख्यात अमरीकी नाम हैं: क्लैरेंस डे, क्रिस्टोफर मोर्ले, ई० बी० व्हाइट और जेम्स थर्बर, डब्ल्यू० सी० ब्राउनेल, पाल एल्मेर मोर; और उन सबसे बढ़कर जार्ज सैंटायाना। इन सब निबन्धों में सबसे बड़ा गुण जो दिखाई देता है, वह है लेखकों का जनतन्त्रात्मक दृष्टिकोण। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के उद्घाटन के लिए निबन्ध से अधिक उपयुक्त कोई माध्यम नहीं हो सकता। हर लेखक इसे लिखने की कोशिश कर सकता है, चाहे हर लेखक उसमें मौतेन की दृयता न प्राप्त कर सका हो।

इन सब लेखकों में भारतीय आदर्शवाद के निकटतम होने से जिनका प्रभाव हमारी चिन्तन-शैली पर, विशेषतः अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों पर अधिक पड़ा, वे हैं इमर्सन और थौरो। "कांट, कार्लाइल, अफ़लातून और नव्य-अफ़ला-

तूनवादियों के साथ-साथ पौर्वात्य दर्शन तथा प्रोटेस्टेंट उदारता में यान्की लोगों की साधारण समझदारी मिलाकर राल्फ वाल्डो इमर्सन ने अमरीका में अपना एक अतीन्द्रिय विचार-लोक बनाया।" इमर्सन के आदर्शवाद की आगे चलकर चाहे व्यक्तिवाद में परिणति क्यों न हुई हो, यह बात निश्चित है कि अमरीका को पीढ़ियों तक स्वावलम्बन, सुस्पष्ट तर्क करने की क्षमता और निरन्तर आत्म-शोधन के लिए यदि किसी के निबन्धों ने बल दिया तो वे इमर्सन के ही निबन्ध थे। कला, प्रेम, वर्तुल, स्वावलम्बन आदि ऐसे ही उनके निबन्ध हैं जिन्हें विश्व के अभिजात साहित्य (क्लासिक लिटरेचर) की कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। उनमें सार्वजनीनता है और मानव-मात्र की मौलिक अच्छाई में गहरे विश्वास के पुनर्दर्शन होते हैं। धार्मिक न होकर भी वे निबन्ध आध्यात्मिक हैं; किसी भी सम्प्रदाय या विचार-निकाय के अधीन न होकर वे व्यक्ति-मात्र की मौलिक स्वातन्त्र्येच्छा के लिए चिरन्तन दीप-दर्शक का कार्य करते हैं। थोरो के वाल्डेन और अन्य निबन्धों में स्वावलम्बन का जैसा सुन्दर रूप हमें मिलता है वह अन्यत्र पश्चिमी विचारकों में कम पाया जाता है।

फ्रांसीसी साहित्य में निबन्ध का अधिक विकास हुआ है। सोलहवीं सदी से एक प्रकार की दुर्दमनीय स्वातन्त्र्येच्छा फ्रांस के साहित्य में मिलती है। राबेले ने इस प्रकार की स्वाधीन-चिन्ता का सूत्रपात किया, जो मौतेन में और उभरी। उसके Essais इस प्रकार के चिन्तन के बहुत अच्छे नमूने हैं। मनुष्य-स्वभाव के अलग-अलग चित्रों का संग्रह मानो उसने अपनी कुशल लेखनी से किया और एक नई भाषा-शैली का सूत्रपात किया। इसी शती के धार्मिक आध्यात्मिक लेखकों में पास्कल का नाम लिया जा सकता है। उसकी Pensees (जिस पर विस्तार से आल्डस हक्सले ने लिखा है) में अन्तर्धारा है तो आस्तिक्य की, परन्तु उसका विचार-वैभव बहुत सम्पन्न है, सांकेतिकता उसमें सर्वाधिक है। अठारहवीं शती में मांतेस्क के L'Esprit des lois (१७४८) में और Lettres Persanes में इसी प्रकार के हल्के-फुल्के सामाजिक व्यंग्य हैं। वाल्तेयर का कलम-कुल्हाड़ा, सशक्त व्यंग की मूठ से सज्जित, हर सामाजिक दंभ का भंजन करने के लिए चिर-प्रस्तुत था। रूसो के निबन्ध समाज-विज्ञान के ग्रन्थ जैसे, अधिक गम्भीर रूप में हैं; दिदेरो तो विश्व-कोशकार ही था। रूसो के Les Confessions और Emile में एक नये प्रकार की सहजता और सामाजिक बनावट का आमूल विरोध हमें दिखाई दिया है। यह एक प्रकार से भावुकता और संवेदनशीलता का पुनरुत्थान था। उन्नीसवीं शती में मादाम दा स्तायल और शातोब्रियाँ की आत्म-कथात्मक दैनिकियों के लेखन में व्यक्तिगत निबन्ध के हमें दर्शन मिलते हैं। वैसे Vaurenargues के निबन्धों की

चर्चा भी साहित्य के इतिहास में की जाती है।

रोम्याँ रोला निबन्धकार से अधिक जीवनीकार, उपन्यासकार और कलालोचक हैं। परन्तु अति-आधुनिक काल में एलँ (Alain) का नाम प्रधान है। La Depecte de Rouen नामक दैनिक पत्र में रॉडिकल सोशलिस्ट पार्टी के प्रमुख के नाते उसने लिखना शुरू किया। यह एक छोटा-सा प्रादेशिक पत्र था। परन्तु इसमें क्लेमैंस्यू और जौरे-जैसे बड़े साहित्यकार लिख चुके थे। एलँ ने पास्कल के 'एक देहाती के पत्र' में उठाये हुए प्रश्नों का जैसे उत्तर देना शुरू किया उसने जनता की ओर से आवाज बुलन्द की। वहाँ के एक पार्लामेंट-मेम्बर ने उसे एक वजीफा दिलाने में मदद की। एलँ दर्शन का अध्यापक बना। वह प्रत्येक अधिकारिक सत्तामात्र का विरोधी है। वह चाहे राजनीतिक हो या सांस्कृतिक—तानाशाही से वह बहुत क्रुद्ध है। उसकी सर्वोत्तम पुस्तक है Mars,en la Guerre jugee (जनता युद्ध के बारे में क्या सोचती है ?)। उसका मत है कि एक भले आदमी को फौजी वर्दी पहना दो, वह खूनी और हत्यारा जरूर बन जायगा। युद्ध में हिंसा सिर्फ बुरी नहीं है, विरोधी पक्ष के लोग आज नहीं कल मरेंगे ही। परन्तु युद्ध में सबसे बड़ी बुराई यह है कि मनुष्य को अपनी स्वतन्त्र इच्छा एक व्यक्ति या एक गुट के हाथों में सौंप देनी पड़ती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण उसकी मृत्यु है।

Les Idees et lesages में एलँ ने सच्चे निबन्धकार की भाँति मन को स्वैर भटकने दिया है। हर बाहर की घटना पर टिप्पणी करते हुए वह बढ़ता जाता है। आलोचक डेनिस सौरात् के अनुसार "एलँ का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह रुकता ही नहीं। यह दोष प्रायः कई निबन्धकारों में पाया जाता है। दैनिक में तो वह प्रतिदिन एक पृष्ठ का लेख लिखता रहता है, और गये पचास वर्षों से नित्य वह यही काम करता आ रहा है। इन सब निबन्धों में से उत्कृष्ट चुनकर निकालना बड़ा कठिन काम है।"

वामपक्षियों को एलँ, उसी प्रकार से दक्षिणपक्षियों का बड़ा निबन्धकार है आँरी ब्रे मॉं। उसने फ्रांस की धार्मिक भावनाओं के साहित्य का इतिहास (Historie litteraire du sentiment religieux en France) लिखा है। वह एक प्रकार का रहस्यवादी या मर्मी है। वैसे और गम्भीर विषयों पर लिखने वाले निबन्धकारों में मैरितेन, जूलियन बेंदा, सार्त्र, कामस्यू आदि कई हैं। परन्तु वे सब समाज-वैज्ञानिक या दार्शनिक कोटि के लेखक हैं।

निबन्ध के क्षेत्र में अमरीका और फ्रांस की साहित्यिक देन के बाद जब हम सोवियत रूस के इतिहास की ओर मुड़ते हैं तो हमें बहुत आश्चर्यचकित होना पड़ता है कि क्रान्त्युत्तर समाज-व्यवस्था में जहाँ बड़े विकास की चर्चाएँ हैं, साहित्य

का यह रूप, जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सर्वाधिक चाही जाती है, वहाँ केवल कुचला हुआ ही नहीं, प्रत्युत नहीं के बराबर है। जो भी बड़े नाम इस क्षेत्र में लिये जा सकते हैं वे क्रान्ति-पूर्व रूस के ही हैं : ग्रिबोयेदेव, बेलिन्स्की, ताल्स्ताय या अन्य। तुर्गनेव-जैसे स्केचेज़ आज में पढ़ने को नहीं मिलते। ताल्स्ताय और दस्ताफेएस्की की तुलना ही नहीं हो सकती आज के लेखकों से। गोर्की और चेखव कथाकार हैं, निबन्धकार नहीं।

गोगोल के ज़माने से ही रूसी गद्य में उपदेशात्मकता बढ़ने लगी थी। गाचारॉफ़, दस्ताफेएस्की, हर्जेन आदि को पोलेर्फाय और बेलिन्स्की ने बढ़ाया। पर बेलिन्स्की की आलोचना में समाज-सुधार की प्रधानता थी, कला-तत्त्व को कम महत्त्व दिया जाता था। हमारे साहित्य में द्विवेदी-युग के जो मूल्य थे, मेरे विचार में सोवियत-साहित्य अभी उसी प्रायोजनिकता से मुक्त नहीं हो पाया है। उनके अनुसार साहित्य वही है जो सामाजिक उपयोगिता से निर्णीत हो। अब सामाजिक उपयोगिता शासकीय मतावली से निर्णीत होती है, और यों कल का प्रगतिशील आज प्रतिक्रियावादी या इससे उलटे भी सहजसिद्ध किया जा सकता है। तर्क का दुधारा खाँडा शिरच्छेद करने को या राजसी गौरव प्रदान करने को सदा उद्यत है ही। सबसे पहले १९१५ में प्रकाशित, १९४५ के पाँचवें संस्करण में मारिस बेअरिंग के 'आउट लाइन आफ़ सोवियत लिटरेचर' में पृष्ठ १४४ पर लिखा है—
"Thus it is that from the beginning of Russian Criticism down to the present day, a truly objective criticism scarcely exists in Russian literatrue. Aesthetic criticism becomes a political weapon. 'Are you in my camp ?' If so, you are a good writer. 'Are you in my opponents' camp ?' Then your god-gifted genius is mere dross."[1]

इस प्रकार की वृत्ति जहाँ होती है अच्छे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को व्यक्त करने वाले साहित्य का निर्माण कम ही हो पाता है। निबन्धकार के नाते अगर आज सर्वश्रेष्ठ रूसी लेखक कौन है ऐसा प्रश्न किया जाय तो उत्तर पाना कठिन है। 'सोवियत लिटरेचर' में लघु उपन्यास छपते हैं, प्रवास-वर्णन छपते हैं, आलोचनात्मक लेख छपते हैं, कविताएँ भी प्रसंगनिष्ठ होती हैं, पर व्यक्तिगत निबन्ध उसमें कभी नहीं होते। जार्ज रिवी ने अपने सोवियत-साहित्य के 'सर्वे' में कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास और आलोचना पर अलग-अलग अध्याय लिखे हैं, पर निबन्ध पर कोई नहीं। लघु-निबन्ध-जैसा कोई साहित्य-प्रकार गम्भीरता से वहाँ हो ऐसा नहीं जान पड़ता। वह शायद रिपोर्ताज और जर्नलिज़्म की कोटि में

1. पृष्ठ १४४।

आ जाता हो। रूस की माया रूस ही जाने, इसलिए इस विषय को यहीं समाप्त करें।

मेरी यह पुस्तक 'हिन्दी निबन्ध' पर कोई विद्वत्तापूर्ण खोज-ग्रन्थ नहीं, न अन्तिम शब्द होने का मेरा दावा है। मेरा प्रयास है कि कुछ तथ्य, जो मुझे अपने पढ़ने-लिखने के सिलसिले में हस्तगत हुए, मैं अन्य सहृदयों तक पहुँचाऊँ। साहित्य का सत्य किसी एक व्यक्ति या गुट की मोनोपोली नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है; क्योंकि वह अन्ततः जीवन का सत्य है, जो नित्य गतिशील, निरन्तर भ्रमणमान है। गति का आधिक्य कभी-कभी स्थिति का आभास पैदा करता है, पर जैसे मैंने अपनी निबन्धों की पुस्तक 'खरगोश के सींग' में कहा है आभास को सच्चाई मान लेने का हमारा बाल-स्वभाव सार्वजनीन है।

नई दिल्ली
१५-४-५५

—प्रभाकर माचवे

क्रम

१

निबन्ध की परिभाषा और विकास

: १ :

'निबन्ध' शब्द के आप्टे द्वारा रचित संस्कृत-कोश में निम्न बारह अर्थ दिये हैं : (१) बाँधना, जोड़ना; (२) लगाव, आसक्ति[1]; (३) रचना, लिखना; (४) कोई साहित्यिक टीका या कृति[2]; (५) संग्रह; (६) संयम, बाधा, रोक; (७) मूत्रावरोध; (८) श्रृङ्खला; (९) सम्पत्ति का दान, पशुओं का यूथ या द्रव्य का भाग किसी की सहायता के लिए बाँध देना[3]; (१०) निश्चित धन; (११) नींव, उत्पत्ति; (१२) कारण, हेतु। इसीका पर्यायवाची अंग्रेज़ी शब्द 'एसे' प्राचीन उत्तरी-फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला और उसका अर्थ है 'प्रयत्न'; किसी विषय पर गद्य में छोटी साहित्यिक रचना।

हमारे साहित्य में निबन्ध एक आधुनिक साहित्य-प्रकार है जो बहुत-कुछ अंग्रेज़ी के 'एसे' से प्रभावित है। संस्कृत में गद्य-प्रबन्ध, टीकाएँ या आख्यायिकाएँ मिलती हैं; परन्तु आधुनिक अर्थ वाला निबन्ध नहीं। इस आधुनिक निबन्ध को जिसे अंग्रेज़ी समालोचक डॉ० जानसन ने 'मन की मुक्त भटकन' (लूज़ सैली ऑफ़ दि माइण्ड) कहा था, किसी चौखटे में बाँधना सम्भव नहीं है। वैसे हिन्दी में निजात्मक या आत्मनिष्ठ और परात्मक या वस्तुनिष्ठ और फिर दोनों के विचार-प्रधान और भाव-प्रधान ऐसे भेद करके निबन्ध की व्याख्या करने का यत्न किया गया है; परन्तु उत्तम निबन्ध में इस प्रकार का विभेद करना दुष्कर ही नहीं, विफल भी है। जैसे एक उत्तम भाव-गीत (लिरिक) में यह कहना कठिन है कि कवि कहाँ तक निजात्मक है और कहाँ वह 'स्व' का कोटर छोड़कर सर्वात्मक हो जाता है; उसी प्रकार उत्तम सफल निबन्ध में यह सीमा-रेखा स्पष्ट नहीं,

१. भगवद्गीता १६-५।

२. प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धं चक्रे—वासवदत्ता।

३. भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा—याज्ञवल्क्य।

क्योंकि निबन्ध का उद्देश्य ही मन का स्वच्छन्द विचरण, रस-ग्रहण, सौन्दर्य-शोध और आनन्द-बोध है; और वही अनुभव गप-शप के ढंग पर या मित्रों के साथ विश्रब्धालाप के ढंग पर निबन्धकार निवेदित करता है। उसकी कल्पना को छूट है कि इस 'बतकही' में या पाठकों के सम्मुख एक प्रकार के सशब्द स्वगत-भाषण में या आत्मरहस्योद्घाटन में, वह एक बात से दूसरी बात जो उसे सहज सूझ जाय उसकी चर्चा करे। उसका हेतु श्रोता या पाठक का मनःप्रसादन-मात्र है। उद्बोधन या नीत्युपदेश, ज्ञानवर्धन या सव्यंगकशाघात उसके साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं—यद्यपि निबन्ध के विकास में आरम्भिक काल में कई बार कई लेखकों ने इन साधनों को ही साध्य मान लिया था ऐसा जान पड़ता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "यदि पद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" गद्य का वह सुविकसित और परिमार्जित स्वरूप जिसमें लेखक के व्यक्तिगत भाव-विचारों की झाँकी हमें मिल सके, निबन्ध ही है। जे० बी० प्रीस्टले ने 'निबन्ध' शीर्षक के आलोचनात्मक लेख में निबन्ध के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। उसने कहा है—"सच्चे निबन्धकार के लिए कोई विषय आवश्यक नहीं, या यों कहें कि वह दुनिया का कोई भी विषय उठा सकता है।—वह विषय। जिसमें चाहे जैसे झुकाने और चाहे जिस तरफ मोड़ने की शक्ति भरपूर रहती है; क्योंकि उस निबन्ध के द्वारा वस्तुतः वह अपना व्यक्तित्व ही प्रकट करना चाहता है। इस कारण जिस विषय का उसे बिलकुल ध्यान न हो उस पर भी वह निबन्ध लिख सकता है, और वह भी खुशी से। वह निबन्ध में केवल अपने अज्ञान की चर्चा करेगा। सच्चा निबन्ध किसी रहस्यालाप या प्रेम से किये हुए संलाप की भाँति होता है, और सच्चे निबन्धकार की पाठक से जो हित-वार्ता होती है वह चतुराई से भरी और पाठक को प्रभावित करने वाली होती है। वह हर शब्द अपने हृदय के अन्तराल से बोलता है, उसका लेखन अन्तःस्तल की आकुलता व्यक्त करता है।"

लघुता इस प्रकार के आधुनिक वैयक्तिक निबन्ध का प्रधान गुण है। दीर्घ बृहत्कथा आकर इस युग में छोटी गल्प या लघु-कथा बनकर आई; लम्बे-लम्बे खण्डकाव्य या 'ओड' आकर इस युग में चतुर्दशपदियाँ या सॉनेट अधिक लोकप्रिय बने; पंचांकी या त्र्यंकी नाटकों के स्थान पर एकांकियाँ अधिक लोकप्रिय बनीं। उसी प्रकार प्रबन्ध की अपेक्षा लघु निबन्ध अधिक प्रचलित होने लगे। करीब ३७० वर्ष पूर्व मौंटेन् (१५३३-९२) इस साहित्य प्रकार का जन्मदाता माना जाता है। बेकन के निबन्ध जहाँ अगाध, सूत्र-रूप, सुभाषितमय और ज्ञान के

महासागर पर उठने वाली तरंगों के समान थे, वहाँ मॉँटेन् के निबन्ध दुनिया के उपवन में घूमते हुए जमा किये कुछ पुष्पों के समान हैं। मॉँटेन् एक साहित्य-प्रेमी, कला-भक्त फ्रांसीसी न्यायाधीश था। उसने अपने इस प्रकार के स्फुट लेखन को विनय से essais अर्थात् 'प्रयत्न' नाम दिया। डॉ० मूरे के कोश में इसीलिए 'एसे' की परिभाषा दी है—"जिसमें किसी भी विषय का पूर्णत्व से विचार नहीं किया गया है ऐसा किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।"

बेकन और मॉँटेन् के बाद प्रायः एक शती तक इस विषय में कोई प्रगति नहीं हुई। यह स्वाभाविक ही था; क्योंकि निबन्धकार किसी भी भाषा के साहित्य के अन्य विभागों के सम्पूर्ण विकास के बाद परिपक्वावस्था में उत्पन्न होता है। लार्ड बेकन का काल मुख्यतः पद्य-युग था। अतः वहाँ निबन्ध का विकास न होना समझ में आता है। 'दि एज ऑफ रीज़न' के बाद अंग्रेजी साहित्य में आत्माभिव्यकरण की भावना बढ़ती गई। समाचार-पत्रों का विकास भी इसी काल में हुआ। गोल्डस्मिथ, ऍडीसन, स्टील, लैम्ब, हैज़लिट आदि अंग्रेजी-निबन्धकारों की परम्परा इसी कारण से चलती गई। ऍडीसन आदि आरम्भिक निबन्ध-लेखकों पर भी समाचार-पत्र के लिए लिखे जाने वाले मुद्रित लेखन की छाया अधिक स्पष्ट है। मॉँटेन् ने अपने निबन्धों का विषय विशद करते हुए जो कहा था कि "इन निबन्धों में मैंने अपनी तस्वीर खुद बनाई है।" वह बात आधुनिक निबन्धकारों में अधिक स्पष्टता से दिखाई देती है, जैसे स्टीवन्सन्, गार्डिनर, ल्यूकस, चेस्टरटन, बेलाक, राबर्ट लिंड, जेरोम के जेरोम आदि। निबन्ध में विषय और शैली आत्म-चिन्तनपरकता से इस प्रकार एक-प्राण हो जाते हैं कि सफल निबन्ध की कसौटी केवल उसका 'चार्म' या मनमोहकता, या चित्त-रंजकता ही है। लिंड के अनुसार निबन्धों में 'विज़डम इन ए स्माइलिंग मूड' (अर्थात् हँसते-खेलते हुए सयानेपन की बातें) और 'एन एलेगेंट पीस ऑफ नानसेन्स' (सुन्दर बकवास) कहा है। इसीलिए किसी समीक्षक ने आधुनिक निबन्ध को हलकी-फुलकी हवा में तैरने वाली सुन्दर बेकार चीजें माना है।

इस प्रकार निबन्ध की परिभाषा एक दुष्कर कार्य है। जिसका स्वरूप निश्चित न हो, उसकी सुनिश्चित परिभाषा कैसी? १९४८ में प्रकाशित 'ए बुक ऑफ इंग्लिश एसेज़' की भूमिका में डब्ल्यू० ई० विलियम्स ने लिखा है कि "सबसे सुगम परिभाषा निबन्ध की यह है, कि यह गद्य-रचना का एक प्रकार है, जो बहुत छोटा होता है और जिसमें केवल वर्णन नहीं होते। कभी-कभी निबन्धकार अपना मत को सिद्ध करने के लिए तर्कों का आश्रय ले सकता है, कभी उपन्यासकार की भाँति पात्र-सृष्टि भी कर सकता है, परन्तु उसका मूल उद्देश्य

कथा कहना नहीं है। निबन्धकार का मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक, आलोचक या टिप्पणीकार-जैसा होता है।"

ए० सी० बेन्सन ने 'दि आर्ट ऑफ़ दि एसेइस्ट' नाम से एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा है, जिसके अन्त में लेखक ने कुछ ऐसी बातें कही हैं जो कि निबन्धकार के कर्तव्य को अच्छी तरह व्यक्त करती हैं। उसके अनुसार निबन्धकार जीवन की समग्रता का अनुभव और आनन्द ग्रहण करना चाहता है; कवि की भाँति जीवन की विशदता या सूक्ष्मता या सुन्दरता से ही उसे प्रयोजन नहीं होता। निबन्धकार जीवन की आभा से सन्तुष्ट है, दीप्ति से सन्तुष्ट है; पूर्ण प्रकाश या ज्वाला की अनुभूति उसका इष्ट नहीं। अतः निबन्धकार रोमांस-लेखक के विपरीत है। निबन्धकार जीवन का तटस्थ द्रष्टा है; वह व्यर्थ के स्वप्न-लोक में अपने-आपको खो देना नहीं चाहता। निबन्धकार हमारा सहप्रवासी है, सफर का साथी है। निबन्धकार की मनोदशा चाहे जो हो, उसकी जीवन को देखने की दृष्टि पचासों प्रकार की हो, केवल एक चीज निबन्धकार नहीं कर सकता और वह है जीवन की अवहेलना, तिरस्कार या उपेक्षा। चाहे पूर्वग्रह-दूषित होकर या अज्ञानवश अन्य के अनुभव के प्रति अप्रीति निबन्धकार व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि सारी रसानुभूति का आधार ही यह है कि हम आत्मौपम्य भाव से भावन करें। हमें बिना सहृदयता के किसी चीज के बारे में सोचने का अधिकार नहीं है। जीवन में, हम जो सोचते हैं उसमें कितना अधिक वैविध्य भरा है। इस प्रकार से निबन्धकार जगत् और जीवन को न तो इतिहासकार की भाँति देखता है, न दार्शनिक की; न कवि की, न उपन्यासकार की; और फिर भी निबन्धकार में इन सबका गुण होता है।

: २ :

निबन्ध के प्रकार या शैलियों की चर्चा से पहले निबन्ध अन्य साहित्य-प्रकारों से किस प्रकार से भिन्न है यह जान लेना उपयुक्त होगा। निबन्ध गीत या मुक्तक ऊर्मि-काव्य (लिरिक) से भिन्न है। न केवल इसलिए कि गीत या कविता पद्यबद्ध है परन्तु इसलिए भी कि निबन्धकार अधिक सामान्य बुद्धि के घरेलू, यथार्थवादी स्तर से अपने पाठकों से गप-शप या कानाफूँसी करता है; कवि कल्पना के पंखों पर बैठकर अधिक अयथार्थ भूमि पर अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना करता है।

तो आप कहेंगे कि निबन्ध गद्यकाव्य के निकट का साहित्य-प्रकार होगा। परन्तु वह भी सही नहीं है। क्योंकि गद्यकाव्य प्रायः गम्भीर, अत्यन्त संवेदन-

शील (High stsaung) हृदय के उद्गार होते हैं; निबन्ध हल्के-फुल्के, हास्य-व्यंग विच्छित्ति से शोभित, बातचीत के तौर पर होते हैं। गद्यकाव्य में हास्य प्रायः रसापकर्षक माना जाता है। गद्यकाव्य व्यक्तिगत पत्र की भाँति अत्यन्त आत्म-निष्ठ साहित्य-प्रकार है। परन्तु निबन्ध अधिक वस्तुनिष्ठ लेखन है।

निबन्ध और गल्प में भी बड़ा अन्तर है। गल्प में किसी घटना, वातावरण, चरित्र या उद्देश्य-विशेष की मौलिक अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है। निबन्ध में वैसा बन्धन नहीं है। निबन्ध में मन की मुक्त भटकन होने से यह छूट है कि लेखक किसी सुनियोजित डिज़ाइन में न लिखे। निबन्ध में बतकही है, पर आख्यायिका नहीं, यद्यपि आधुनिक कथा में कथानक कम-कम होकर संज्ञा-प्रवाह का चित्रण तथा उसके द्वारा स्वभाव-रेखा या चरित्र-चित्रण-प्रधान हो गया है। इसलिए बहुत बार यह आधुनिकतम नवकथा निबन्ध के बहुत निकट का साहित्य-प्रकार जान पड़ती है; परन्तु फिर भी दोनों साहित्य-प्रकारों से पाठकों की अपेक्षाएँ बहुत भिन्न होती हैं। कथा पढ़कर पाठक को जो भावात्मक तृप्ति होती है उसकी तुलना में निबन्ध से होने वाली वैचारिक संतुष्टि भिन्न प्रकार की है। एक कारण यह भी हो सकता है कि कहानी में जो तटस्थता अपेक्षित है या उसमें जिस प्रकार की वस्तुनिष्ठ दृष्टि कहानीकार की होती है, वैसी बात निबन्धकार के लिए सम्भव नहीं। निबन्ध का गहरी वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता से सम्बन्ध है। यदि किसी रूखे विषय पर व्यवस्थित तख़मीने बनाकर वाद-विवादयुक्त खण्डन-मण्डनात्मक तर्क प्रस्तुत किये जायँ तो वह निबन्ध की कोटि में शायद ही आ सके, यानी वह आत्म-निबन्ध या ललित निबन्ध न रहकर एक प्रकार का परीक्षा में लिखा जाने वाला प्रश्नोत्तर-प्रबन्ध हो जायगा। वह एक रचनात्मक साहित्य-प्रकार नहीं रहेगा। इस दृष्टि से गल्प में किये जाने वाले प्राकृतिक या बाह्य वस्तुओं के वर्णनों से निबन्ध के वर्णन भिन्न हैं। गल्पकार जब चुनाव करता है तो उसका उद्देश्य स्पष्ट है : कहानी के हेतु या अन्तिम परिणाम को परिपुष्ट करना। वह यह सब वर्णन सिर्फ मिर्च मसाले की तरह, साधन के रूप में काम में लाता है; साध्य उसका कुछ और है। निबन्धकार का लक्ष्य इस तुलना में बहुत भिन्न है। गल्पकार की तरह वह अपने-आपको भूलकर पूरी तरह अपने पात्रों में खो जाय, ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। निबन्धकार की सबसे बड़ी कठिनाई या विशेषता यही है कि वह अपने-आपको पूरी तरह भुला ही नहीं सकता। सर्वत्र, सब विषयों में, सब समय वह अपने-आपको साथ लिये चलता है। वह लेखक का निजत्व बहुत प्रधान है। गुलाबराय ने अपने 'काव्य के रूप' में पृष्ठ २३२

पर लिखा है—"पुस्तक में लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल कर सकता है, किन्तु निबन्ध में यह व्यक्तित्व छिपाया नहीं जा सकता। लेखक जो-कुछ लिखता है उसको अपने निजी मत के रूप में अथवा अपने निजी दृष्टिकोण से लिखता है। उसके पीछे उसके निजी अनुभव की प्रेरणा दिखाई देती है। यदि लक्षणा या व्यंजना के विषय में कोई ऐसा लेख लिखा जाय जिसमें केवल शास्त्रीय मत ही दिया गया हो तो वह किसी पुस्तक का अध्याय बन सकता है, निबन्ध न होगा। निबन्ध तभी होगा जब कि वह लेखक के किसी निजी दृष्टिकोण से देखा गया हो।"

इस विवेचन से ऐसा जान पड़ेगा कि निबन्ध की निकटतम साहित्य-शैली गीति-काव्य की स्फुट तथा मुक्तक अभिव्यक्ति या 'लिरिक' हो सकती है। यह बात सही है कि भाव-कविता के मूल में जो लयबद्धता, संगीतात्मकता आदि गुण हैं उन्हें यदि निकाल दिया जाय और उसी त्रुटित भावोल्लास को गद्य के रूप में लिख दिया जाय तो बहुत-कुछ लघु निबन्ध के रूप के निकट आ जाय। परन्तु भाव-गीत और निबन्ध में अन्तर है। भाव-गीत के विषय जैसे सीमित हैं, उसकी रस-निष्पत्ति की पद्धति भी प्रायः पूर्व-निश्चित-सी है। उसमें 'वैलक्षण्य' (एलिमेंट ऑफ सरप्राइज़) की कमी है। निबन्ध की इस दिशा में अनेकमुखता बहुत स्पष्ट है। न तो उसके विषय की कोई सीमा है, न उसकी शैलियों की कोई मर्यादा। वस्तुतः रचयिता के मन की असर्याद भटकन निबन्ध में जितनी आसानी से पूरी हो सकती है, वैसी गीति-काव्य में नहीं। गीति-काव्य एक सुमधुर स्वरों वाले पक्षी के समान है। जिसके आकाश-चारित्व और गान-स्वच्छन्दता के बाद भी एक नीड़ जैसे सुनिश्चितप्राय है। परन्तु निबन्ध का कोई नीड़ नहीं। निबन्ध घुमन्तू, कबायली तथा यायावर, प्रकार का चिर-प्रवासी साहित्य-प्रकार है। घाट-घाट का पानी उसने पिया है, कई सराय और होटलों में वह ठहरा है। मगर उसका मंजिल-मकसूद अन्ततः आत्म-कथन या अपने निकटतर व्यक्ति को लिखे जाने वाले पत्र के समान है। उसमें लेखक की रुचि-अरुचि भी मिश्रित है।

ऊपर जब पत्र-लेखन या स्वगत-भाषण की बात कही गई तब यह न समझा जाय कि निबन्ध केवल 'खालीखाकी' है या 'रिपोर्ताज'-मात्र है, या यह केवल संस्मरणात्मक रेखाचित्र है या वह यात्रा-वर्णन है। वह यह सब-कुछ सम्मिश्रित रूप में होने पर भी, उससे ऊपर एक सुन्दर रसायन-सा है। उसकी इससे अधिक कोई सुनिश्चित परिभाषा दे पाना असम्भव है। बेन्सन के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "साहित्य में नामकरण तथा साहित्यिक अभिव्यञ्जनाओं के रूपों का वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति बहुत गड़बड़ में डालने वाली और

उलझाने वाली होती हैं। यह सब नामकरण या वर्गीकरण केवल सुविधा के लिए किया जाता है। यह कहना कि साहित्य रूढ़ लीकों और टाइपों के अनुसार ही चले, कोरा पण्डिताऊपन है। इसका भावार्थ इतना ही है कि साहित्य एक बड़ी शक्ति है, जो चाहे जिस प्रवाह में बहती है। कला का वर्गीकरण केवल इन प्रवृत्तियों और प्रवाहों का वर्गीकरण है। सारी कला के पीछे विस्मय की भावना प्रधान होती है, और एक प्रकार का केन्द्रित ध्यान का स्थिरीकरण (ऍरेस्टेड ॲटेन्शन)। यह आवश्यक नहीं है कि यह स्थिरत्व केवल सौन्दर्य से ही घटित होता है। कई बार यह केवल औचित्य, अद्‌भुतता, सम्पूर्णता, प्रभावशाली प्रयत्न आदि के कारण भी हो सकता है, जैसे कोई आदिम निवासी एक आधुनिक नगर को देखकर चकित हो जाय। यह आश्चर्य केवल सौन्दर्य-बोध के कारण नहीं है, जैसे बच्चे तोते की आँख और बोली को देखकर विस्मय, आह्लाद, औत्सुक्य और न जाने किन-किन विभावों से अभिभूत हो उठते हैं।......इस प्रकार की प्राथमिक और अतर्क्य भाव-सामग्री से निबन्धकार का पाला पड़ता है, और इसी में उसकी सफलता भी निहित है कि वह कहाँ तक और कैसे उसका उपयोग करता है।"

: ३ :

निबन्ध के प्रकार कौन से हैं? जितने लिखने वाले और जितनी उनकी मनोभूमिकाएँ, उतनी पद्धतियाँ हो सकती हैं। इस प्रकार निबन्ध के प्रकार अनन्त हो सकते हैं। पर सुविधा के लिए निबन्धों को कुछ प्रकारों में आलोचकों ने बाँधने का यत्न किया है। डॉ० ठाकुरप्रसादसिंह की पुस्तक 'हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकार' की भूमिका में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"जनतन्त्र का ज़माना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखने वाले हर भलेमानस को किसी-न-किसी विषय पर कुछ-न-कुछ कहना है, हर छापे की मशीन को अपना पेट भरने के लिए कुछ-न-कुछ छापना है। सो राज्य-भर के विषयों पर निबन्ध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई सबका लेखा-जोखा मिलाए। सभी विचार किसी-न-किसी निबन्ध-शैली में लिखे जाते हैं। जब कार्लाइल ने कहा था कि निबन्धों को देखकर किसी साहित्य की गहराई का अनुमान किया जा सकता है तो निश्चय ही उसने हर गद्यबद्ध रचना को निबन्ध नहीं माना था। उस महान् विचारक के मन में ऐसी गद्य-रचनाएँ थीं जिनमें केवल प्रलाप नहीं होता, केवल उथले विचारों का संकलन नहीं होता, बल्कि जिनमें गम्भीरतापूर्वक कार्य-कारण की शृङ्खला का ध्यान

रखते हुए विचार निबद्ध किये जाते हैं और उन निबद्ध विचारों की रीढ़ लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है। ये दो ही बातें निबन्ध की जान हैं। उनमें या तो विशुद्ध ऊहापोह-मूलक चिन्तन हो और या फिर लेखक का अपना व्यक्तित्व प्रधान हो उठा हो। निबन्ध में कभी एक बात प्रधान हो उठती है कभी दूसरी, पर किसी-न-किसी रूप में ये दोनों रहती अवश्य हैं। जिस साहित्य में ऐसे निबन्ध नहीं होते उसको बहुत समृद्ध साहित्य नहीं कहा जा सकता।"

इस प्रकार निबन्ध का शैली की दृष्टि से विभाजन असम्भवप्राय हो जायगा। श्री गुलाबराय ने अपने 'काव्य के रूप' में पृष्ठ २३७ पर निबन्धों को चार विभागों में बाँटा है—(१) वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव), (२) विवरणात्मक (नैरेटिव), (३) विचारात्मक (रिफ्लेक्टिव), और (४) भावात्मक (इमोशनल)। अपने इस चौकोर विभाजन को समझाते हुए गुलाबराय जी ने और उलझा देने वाली टिप्पणी दी है। आप लिखते हैं—"वर्णनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध देश से है, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से, और भावात्मक का हृदय से। यद्यपि काव्य के चारों तत्त्व 'कल्पना-तत्त्व, रागात्मक तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और शैली-तत्त्व' सभी प्रकार के निबन्धों में अपेक्षित रहते हैं तथापि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्त्व को और भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्त्व को मुख्यता मिलती है। शैली-तत्त्व सभी में समान रूप से वर्तमान रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कहीं विचारात्मकता की और कहीं भावात्मक की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक तथा भावात्मक का भी मिश्रण होना सम्भव है।"

यानी इस सारी बात में शब्दों के पर्यायों के हेर-फेर के बाद जो बात समझ में आती है वह इतनी ही है कि निबन्धों के ऐसे भेद करना सचमुच में कोई अर्थ नहीं रखता। मनुष्य में कल्पना, तर्क, भावना, विचार सभी कुछ जिस प्रकार समन्वित होता है, निबन्ध में भी उनका अलग-अलग खण्डशः विभाजन असम्भव है। निबन्ध एक अन्विति है। वह व्यक्तिनिष्ठ वाङ्मय-प्रकार है। फिर भी आलोचकों ने विचारात्मक निबन्धों के : "समास-शैली (जैसी आचार्य शुक्लजी की) और व्यास-शैली (जैसी श्यामसुन्दर दासजी की)" तथा भावात्मक निबन्धों की धारा, तरंग और विक्षेप शैलियाँ वर्णित की हैं।......"विक्षेप और प्रलाप-शैली में मात्रा का ही अन्तर होता है" ऐसा भी कहा गया है। और हास्य-व्यंग के निबन्धों को कुछ लोग एक स्वतन्त्र विधा मानते हैं। कई लोग तो भाषा-शैली के अनुसार कुछ निबन्धों को

संस्कृत-बहुल और कुछ निबन्धों को उर्दू-बहुल कहते हैं। हिन्दी की एक निबन्ध-पुस्तक की भूमिका में विद्वान् लेखक ने हिन्दी-भाषी लेखकों के निबन्ध और "हिन्दी-क्षेत्र के बाहर भी हिन्दी राष्ट्रभाषा पद का महत्त्व स्वीकार कर अनेक विद्वानों और लेखकों ने हिन्दी-निबन्ध लिखे, जिनमें सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, काका कालेलकर, नलिनीमोहन सान्याल आदि प्रमुख हैं।"[१] इस प्रकार के अहिन्दी मातृ-भाषा-भाषियों के निबन्धों में अन्तर किया है। जनार्दन-स्वरूप अग्रवाल ने अपनी छोटी पुस्तक 'हिन्दी में निबन्ध-साहित्य' में पृष्ठ ८२ पर कहा है—"आदर्श रूप में जितने लेखक उतनी ही शैलियाँ, इसीलिए कोई-कोई समालोचक विद्वान् भावात्मक, उपदेशात्मक, विवरणात्मक, व्यंग्यात्मक, आख्यानात्मक, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, अनालोचनात्मक, गवेषणात्मक, तात्त्विक, तार्किक, ललितकथात्मक तथा न जाने कितने और 'आत्मक' जोड़कर भेदोपभेद बताते ही चले जाते हैं, तथा कोई पाँच भेद कहते हैं तो कोई सात, परन्तु मुख्यतया तीन शैलियाँ हैं।" पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"निबन्ध या गद्य-विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं।"

मराठी में 'लघु निबन्ध' शब्द हिन्दी के 'आत्मनिबन्ध' के लिए रूढ़-प्राय है। इस सम्बन्ध में 'लघुनिबन्ध आणि लघुनिबन्धकार' की भूमिका में मि० श्र० परब ने विस्तार से विवेचन किया है। अंग्रेज़ी में 'शार्ट स्टोरी' (लघुकथा) तो कहते हैं पर 'शार्ट एसे' नहीं कहते, बल्कि केवल 'एसे' कहते हैं। 'एसे' के 'इम्पर्सनल' तथा 'पर्सनल' दो रूप माने जाते हैं। प्रो० ना० सी० फड़के, जो कि इस साहित्य-प्रकार के मराठी में आद्यजनक हैं, इसी प्रकार को 'गुजगोष्ठी' (बतकही, कानबात) या 'ललितनिबन्ध' कहते हैं। परब के अनुसार 'ललित' विशेषण 'शास्त्रीय' के विरोध में विदग्धतायुक्त है। इसलिए 'ललितनिबन्ध' शब्द अतिव्याप्ति-दोष से भरा है। 'लघुनिबन्ध' शब्द मराठी में आधुनिक निबन्ध के अर्थ में रूढ़ हो चुका है। जेपसन् के अनुसार "लघुनिबन्ध के विषय का महत्त्व नहीं है, विषय का प्रतिपादन भी अनिर्बन्ध हो सकता है। उसमें चाहे जो स्वच्छन्दता लेखक बरते; परन्तु रचना सुनिबद्ध, स्थापत्यपूर्ण, संलग्न, एकात्म होनी चाहिए।" विषय-प्रतिपादन में सहृदयता, रसज्ञता, सम्भाषण-चातुर्य, काव्य-दृष्टि, 'विट' या विच्छित्ति, परिहास

१. देखिए, 'निबन्ध-संग्रह' : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० श्रीकृष्णलाल, भूमिका, पृष्ठ २०।

की सूक्ष्म छटा आदि उत्तम निबन्ध के कुछ आवश्यक गुण हैं; जब कि रचना-चातुर्य, भावोत्कटता, रम्य भाषा-शैली तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का अभाव कुछ प्रधान दोष हैं।

: ४ :

आधुनिक अर्थ में जिसे हम निबन्ध कहते हैं उसके सूत्रपात का श्रेय मौंटेन् नामक फ्रांसीसी लेखक को है। मौंटेन् ने सन् १५६४ से लिखना शुरू किया था। उसने अपनी निबन्ध-रचना के सम्बन्ध में लिखा है कि "माई एसेज़ आर कान्सबटेन्शियल विथ मी" अर्थात् "मेरे निबन्ध और मैं एक ही सामग्री से बने हैं।" मौंटेन् की निबन्ध-शैली में जीवनानुभूति के प्रति तादात्म्य तथा तटस्थता का एक साथ दर्शन होता है। श्रेष्ठ कला के लिए ये दोनों गुण एक-से आवश्यक हैं। कन्हैयालाल सहल का अनुमान है "कि मौंटेन् को बहुत अंशों में सिसेरो से प्रेरणा मिली होगी जिसने अमूर्त विषयों का सम्भाषण-पद्धति पर चित्रण किया है और वह भी बड़ी स्वच्छन्दता और वैचित्र्य के साथ। सिसेरो से भी पहले प्लेटो ने जो अपने संवाद लिखे थे उनमें उपन्यास और निबन्ध दोनों के बीज मिल जाते हैं। प्लेटो के संवादों में दार्शनिक की शुष्कता नहीं है, उनमें साहित्यकार की प्राणमयी सजीवता के दर्शन सर्वत्र हो सकते हैं। मौंटेन् के निबन्धों में जो आकर्षण है उसका कारण है उसके व्यक्तित्व की मनोरंजकता, उसका आवेश, उसका सूक्ष्म निरीक्षण तथा तत्कालीन मनुष्यों और उनके रीति-रिवाजों से उसका सजीव परिचय।"[1]

मौंटेन् के निबन्धों में एक चतुर सम्भाषण करने वाला अपनी आत्म-कथा से संस्मरण सुना रहा हो और साथ ही उसमें चिन्तन और नैतिकता की सूक्ष्म पुट हो ऐसा जान पड़ता है। यह मौंटेन् की अपनी विशेष जीवन-दृष्टि के कारण सम्भव हुआ है। उसने अपने निबन्धों में राजनीतिक अथवा धार्मिक विषयों को नहीं आने दिया। हडसन ने मौंटेन् के निबन्धों को 'विचार-सूत्र, उद्धरण तथा संस्मरणों की कथा' कहा है। उसने एक सर्वसन्देहवादी दार्शनिक की भाँति दुनिया-भर के विषयों पर अपनी सुभाषित शैली में अभिव्यञ्जना दी। वर्जीनिया वूल्फ़ के शब्दों में मौंटेन् ने कभी की अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल अपनी आत्मा को छटपटाती मछली की तरह अपनी रचनाओं में रख दिया। उसने निबन्ध लिखने के लिए निबन्ध नहीं लिखे। किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर उसने उपदेश का बाना नहीं ओढ़ा। मौंटेन् ने अपने इस

१. 'आलोचना के पथ पर'; मौंटेन्-शैली के निबन्ध, पृष्ठ २६६-२६७।

वैचारिक विद्रोह के प्रेरणा-स्रोतों में रूसो का नाम लिया है।

अंग्रेज़ी में वैसे निबन्ध-लेखन की शुरुआत बेकन से मानी जाती है। निबन्धकार के नाते उसकी विशेषता और ही तरह की है। सभी निबन्धों में उसकी अलौकिक बुद्धिमत्ता दिखाई देती है। वह एक अत्यन्त व्यवहार-कुशल व्यक्ति था। अतः उसमें कहीं भी विषयान्तर या आत्मालोचन नहीं दिखाई देता। उसकी शैली बड़ी सुगठित और भव्य है, परन्तु उसकी सूत्रमयता को छोड़कर वह चिरस्मरणीय नहीं रहेगी। टामस ब्राउन की काव्यात्मा उसमें नहीं है। एक आलोचक ने उन्हें 'सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले भद्र पुरुषों की आचार-उपयोगी पुस्तिका' माना है। फ्रांसिस बेकन के 'एसेज़' सन् १५९७ में प्रकाशित हुए। उसके कई परिवर्द्धित संस्करण १६२५ तक प्रकाशित हुए। उनकी विशेषता थी उनका इतना संक्षिप्त होना और इतना मुद्दे से भरा हुआ होना। वैसे बेकन की ख्याति उसके 'नोवम आर्गेनम' — जैसे लातीनी ग्रन्थों के कारण है। उसमें अरस्तू की संश्लेषणात्मक तथा निगमनात्मक तर्क-पद्धति के बदले अपनी विश्लेषण-विशिष्ट आगमशैली का प्रतिपादन किया—
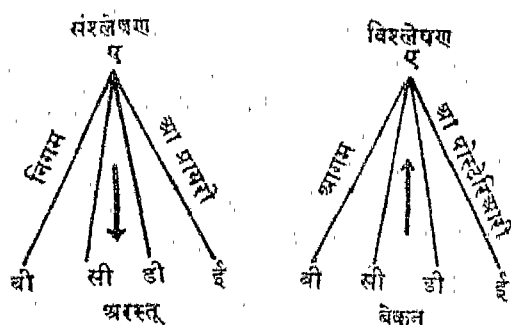
बेकन की शैली का एक नमूना उसके 'ऑफ़ ट्रैवेल' निबन्ध के आरम्भिक तीन वाक्यों में देखिए—"Travel, in the younger sort, is a part of education; in the elder, a part of experience. He that travelleth into a country, before he hath entrance into the language, goeth to school, and not to travel. that young men travel under some tutor or grave servant, I allow well."

फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) के बाद जेम्सी टेम्पर (१६१३-१६६७) के निबन्ध निबन्ध-संग्राहकों ने दिये हैं। परन्तु उनमें शैली की कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, सिवा इसके कि बेकन की उपदेश-प्रधानता घटकर कुछ वर्णनात्मकता और विशेष रूप से वर्णनों के रूप में वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ

बढ़ी है। ड्राइडेन (१६३१-१७००) ने साहित्य-शास्त्र पर अपनी ही व्यक्तिगत रुचि को प्रधानता देकर भावाविष्करण प्रस्तुत किया। अब्राहम काउली (१६१८-१६६७) ने आधुनिक ललित निबन्ध के ढंग पर रचना की। बाह्य जीवन की छोटी-छोटी चीजों को लेकर उन्हें अपनी प्रतिभा का आलम्बन बना-कर उसने अपनी कल्पना-रम्यता की सज्जा से मंडित किया। मिल्टन के अनुसार काउली निबन्धकार से अधिक कवि था, और गावर्ड लिंड तो उसे निबन्धकार मानते ही नहीं। परन्तु उसका 'ग्रेटनेस' निबन्ध विख्यात है। टेम्पल नामक लेखक ने इतिहास के विषय में अपने लेख निबन्ध-रूप में व्यक्त किये।

समाचार-पत्रों के विकास के साथ-साथ निबन्ध का महत्त्व भी बढ़ा। जे०डब्ल्यू०मैरिअट ने लिखा है कि "पुराने और नये निबन्ध में सबसे बड़ा अन्तर केवल शिल्प का उतना नहीं, जितना कि मनोभूमि और उसके मूल के सर्व-साधारण विचार-दर्शन का है।" डेफो ने राजनीति को अपना विषय बनाया, इसलिए उसके प्रयत्न असफल रहे; परन्तु उसने 'रिव्यू' की कल्पना शुरू की और उस कल्पना को मूर्त रूप ऑडिसन और स्टील ने दिया। जोजेफ ऑडिसन (१६७२-१७१९) और रिचर्ड स्टील (१६७२-१७२०) ने अपने 'टैट्लर' और 'स्पेक्टेटर' नामक नियतकालिक प्रकाशनों द्वारा कट्टर समाज-सुधार को अपनाया। तत्कालीन सामाजिक दोषों और अन्यायों की कारण-मीमांसा की। इसी कारण वे कई बार नीतिवादी (मौरेलिस्ट) भी माने जाते हैं। संयुक्त परिवार, स्त्री के अधिकार, वर्ग-भेद आदि सामाजिक प्रश्नों पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। इसी समय से निबन्ध का एक काल्पनिक नायक—व्यक्तित्व निर्माण किया जाने लगा। ऑडिसन की 'सर रोजर दि कौवरली' नामक व्यक्ति-रेखा इसी प्रकार की है। अंग्रेजी में जो यह हँसी-हँसी में कहा जाता है कि 'मच कैन बी सेड आन बोथ दि साइड्स' (रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति)। यह वाक्य-प्रयोग पहली बार स्टील के 'आइजैक बिकर स्टाफ्ट' नामक परिहास-पूर्ण पात्र से उन्होंने कराया। इस प्रकार यद्यपि सामाजिक विषय ऑडिसन और स्टील ने लिये, फिर भी निबन्ध-रचना की साहित्यिक साधना भी उनका प्रधान उद्देश्य था। इसीलिए लेग्वी कॅजैमिया ने उनके विषय में लिखा है कि "देअर टास्क वाज़ टु मारलाइज़ रिफ़ाइनमेंट एण्ड रिफ़ाइन मौरैलिटी।" उन निबन्धों में सहजता है, परन्तु गठन या संयोजन का अभाव है।

इनके बाद डॉक्टर सैम्युअल जानसन (१७०६-१७८४) ने अंग्रेज़ी निबन्ध को नया विस्तार और गहराई दी। 'टैट्लर' और 'स्पेक्टेटर' पत्रों की परम्परा 'रैम्बलर' और 'आइडलर' ने आगे चलाई। डॉक्टर जानसन के

विचार परिपक्व थे, बीच-बीच में परिहास की ओर झुके हुए और आत्मालोचन की जिज्ञासा लिये हुए थे। आलिवर गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) यद्यपि प्रधानतः कवि था, फिर भी उसका भावुक हृदय निबन्धों के रूप में भी प्रकट हुआ है और एक कल्पित चीनी प्रवासी की कल्पना करके उसने अंग्रेज़ी समाज की संकीर्णता पर गहरा व्यंग किया है। 'सिटिज़न ऑफ़ दि वर्ल्ड' में एक उदार मानवतावाद का प्रचार गोल्डस्मिथ ने किया है। उसने औद्योगिक क्रान्ति के बाद के यूरोप और इंग्लैण्ड के नये कच्चे विचार-मूल्य अपने निबन्धों में प्रस्तुत किये और वे भी नर्म विनोद के शर्करावगुण्ठन के साथ-साथ।

उन्नीसवीं सदी में निबन्ध का विकास 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टर्ली रिव्यू', 'ब्लैकवुड रिव्यू' आदि मासिकों द्वारा बड़ी क्षिप्रता से हुआ। गिफर्ड, हंट, हैज़लिट, लैम्ब, डी क्विन्सी, मेकाले-जैसे शैलीकार इन पत्रिकाओं में लिखते थे। 'एडिनबरा रिव्यू' लिबरल-पार्टी की नीति का समर्थन करता था, जब कि 'क्वार्टर्ली रिव्यू' रूढ़िवादियों का पक्षधर बना। 'लंदन मैगज़ीन' सुधारवादियों का मोर्चा सँभाले था। इन सभी निबन्धकारों में अग्रस्थान चार्ल्स लैम्ब (१७८९-१८३४) को मिलता है। उसे 'प्रिंस ऑफ दि एसेइस्ट्स' कहा जाता है। उसके व्यक्तित्व की अव्याज मनोहारिता, शैली की प्रसन्नता और ऋजुता अभी भी मन को मोह लेती है। उसके निबन्ध पढ़कर ऐसा लगता है कि मानो हमें एक मित्र मिल गया हो। उसमें परिहास है, मनमौजीपन है, फिर भी उसके व्यक्तित्व के अन्दर कहीं एक करुण और विरोधाभासमय दृष्टि स्पष्ट है। व्यक्तिगत जीवन उसका कष्टमय था, परन्तु थैकेरे की भाँति वह सर्वसन्देहवादी कभी नहीं बना। गरीबों के दुःख देखकर उसके हृदय को आँच लगती थी। उसके 'एसेज़ ऑफ ईलिया' का स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण स्थान है। विलियम हैज़लिट (१७७८-१८३०) लैम्ब की भाँति दोनों पक्ष देखने का आदी नहीं था। वह अपनी ही बात सर्वोपरि करता था। आत्मनिष्ठ दृष्टि से अपने नैयक्तिक मत वह विदग्धतापूर्ण भाषा में प्रतिपादित करता। अपनी ही बात कहने की इस पद्धति में लैम्ब से हैज़लिट की समानता थी। 'आन गोइंग ए जर्नी' नामक निबन्ध में उसके ये सब शैलीगत गुणावगुण दिखाई देते हैं।

टामस डी क्विन्सी (१७८५-१८५९) अफीमची थे, परन्तु उनके निबन्धों में निरी पीनक नहीं है। उनके निबन्धों के पीछे गाढ़ व्युत्पन्नता और असामान्य भाव-प्रमुग्ध दिखाई देता है। अब निबन्ध पुनः साहित्यिकता की ओर झुका और सन्दर्भ-प्रचुर लेखन अधिक लोकप्रिय बना। वाशिंगटन आयर्विंग (१७८३-१८५९) का 'स्केचबुक' नामक संग्रह और गार्ड लुई

स्टीवैन्सन (१८५०-१८९४) के 'वर्जीनिबस प्युरेस्क' नामक संग्रह इस बात के साक्षी हैं। इनमें प्रायः प्रत्येक वाक्य में एक-न-एक प्राचीन लातीनी या अंग्रेज़ी लेखक का उद्धरण छिपा हुआ है और इस कारण से 'काव्य-शास्त्र-विनोद' के कौतुक का विषय बनकर भी, यह शैली अधिक लोकप्रिय न हो सकी। गद्य-काव्य और वाद-विवाद के विचित्र मिश्रणों में से कभी-कभी लोक-विलक्षण मत भी दृग्गोचर हो जाते हैं। शब्दों का ऐसा सुघर शिल्प मन को अभिभूत कर देता है। परन्तु इन सब 'वदतो व्याघातादि' (पैरेडाक्स) के बाद क्या? स्टीवैन्सन के जीवनानन्दवादी दृष्टिकोण के कारण निबन्धकार का पुराना निवृत्ति-प्रधान उदासीन चेहरा बदल गया।

इस प्रकार से सत्रहवीं सदी से शुरू होकर अंग्रेज़ी निबन्ध को हम बेकन, ऑडिसन, लैम्ब और स्टीवैन्सन के सहारे बीसवीं सदी तक समझ सके हैं। अब यन्त्र-युग के साथ-साथ साहित्य और साहित्यकार के प्रश्न भी उतने सरल नहीं रहे हैं। पहले-जैसे सर्वसुखवादी और 'बोहेमियन' वृत्ति के लेखक नहीं रहे। परन्तु परिहास की सूक्ष्म पुट के साथ व्यंग-भरे ये आधुनिक निबन्ध-लेखक सहज विश्वासी नहीं हैं। वे प्रत्येक वस्तु को संशयात्मा की आँखों से देखते हैं। आधुनिक निबन्ध अब वाद विवाद-प्रधान हो गए हैं। जी० के० चेस्टरटन (१८७४-१९३६), मॉरिस हिवलेट (१८६१-१९२३), ई० वी० ल्युकास (१८६८-१९३८), आर्थर क्लटन ब्रॉक (१९०६-१९५०), एडवर्ड टामस (१८७८-१९१७), जेम्स एगेट (१८७७-१९४७) और एबार्ट लिंड (१८७९-१९४९) अब नहीं रहे; फिर भी वैशिष्ट्यपूर्ण शैली से उन्होंने अंग्रेज़ी-निबन्ध को बहुत समृद्ध बनाया है। और जो जीवित हैं उनमें हिलेयर बेलाक (१८७०—), ए० ए० मिल्न (१८८२—), हेराल्ड निकलसन (१८८६—), जे० बी० प्रीस्टली (१८९४—), आइवार ब्राउन (१८९१—), आल्डस हक्सले (१८९४—), नेविल कार्डस (१८८९—), वी० एस० प्रिचेट (१९०० —) आदि प्रमुख हैं। ए० जी० गार्डिनर ने निबन्ध और रेखा-चित्र का सुन्दर सम्मिश्रण उपस्थित किया है। इन आधुनिक निबन्धकारों की विशेषता किस बात में है? उनके नये विचारों में, उनकी नई अनुभूतिक्षमता में या उनकी नई विन्यास-शैली में? हमारे विचार से उनकी विशेषता इन तीनों बातों में स्पष्ट व्यक्त होती है। क्योंकि नये अनुभूति-विषय हुए, नये नये रागात्मक सम्बन्ध और उनके विषय में नये अनुबंध-सम्बंध निर्मित नहीं हो सकते। और इस नई भाव-विचार-सम्पदा के अनुकूल नई अभिव्यञ्जना-शैली भी निश्चित रूप से विकसित हुई है। अब परिहास का विषय कोई भी वस्तु हो

सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि अमुक विषय पर व्यंग किया जाय, अमुक पर नहीं। यह सब वर्जनाएँ आधुनिक निबन्धकार ने छोड़ दी हैं। 'ट्रेजेडी एण्ड दि होल ट्रुथ' निबन्ध में ऑल्डस हक्सले ने लिखा है—'In recent times literature has become more and more acutely conscious of the whole truth' यही समग्र सत्य-कथन अब के निबन्धकारों को पुराने निबन्धकारों से भिन्न करता है। एक उत्तम निबन्धकार भी खण्ड-सत्य में से इस सम्पूर्ण सत्य के साफल्य का झाँकी दिखाता है।

हिलेयर बेलाक इतिहास के विद्वान् हैं, पर वे छोटे-छोटे विषयों पर व्यंग्य-विनोदमय गद्य-पद्य-रचना भी बहुत सफलता से कर सकते हैं। चेस्टरटन तो अपने-आपमें एक संस्था हैं। उनके दुनिया से दूर, अजीबो-गरीब मतवाद सबको चौंका देते हैं। उनके इन सब मूर्ति-भंजक विचारों और विरोधाभास-युक्त वाक्य-रचना आदि गुणों को देखकर जान ड्रिंक वाटर ने उन्हें 'टाप्सी-टर्वी-फिलासफ़र' कहा था। ई०वी० ल्यूकास में व्याजोक्तिपूर्ण परिहास-विजल्पित तथा अद्भुत मौलिक कल्पना बहुत दिखाई देती है। रावर्टलिण्ड में अत्युक्ति अधिक है, यद्यपि रूढ़ियों पर कशाघात करने की उसकी प्रवृत्ति चेस्टरटन की तरह से ही है। ए० ए० मिल्न के भदेसपन के कारण उसकी हास्यपरकता और भी स्पष्ट हो उठी है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि जीवन के उन पहलुओं पर अंग्रेज निबन्धकारों ने विशेष प्रकाश डाला है जिनकी ओर साधारणतया हम उपेक्षा से देखते हैं। एक आलसीपन या बेकारी को ही ले लीजिए; स्टवीन्सेन का निबन्ध है 'एन ऍपालॉजी फ़ॉर आइडलर्स', चेस्टरटन का 'डिफ़ेन्स आफ़ नान-सेन्स', जे० वी० प्रीस्टली का 'अनडुइंग नथिंग', राबर्ड लिंड का 'दी प्लेज़र्स आफ़ इग्नोरेन्स' और सुन्दर चीन-स्थित लेखक लिन युतांग का निबन्ध है 'इन-इम्पार्टन्स आफ़ लोफिंग'।

संक्षेप में अंग्रेजी-निबन्ध का विकास दार्शनिक-नैतिक उपदेशसूत्रमय पद्य-लेखन से अब एक अपरिभाषेय 'बतकही' तक बहुत स्पष्ट रूप से हुआ है। साहित्य के अन्य अंगों के विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर निबन्ध ने भी गुण विकास होता गया है, उसकी विषय-वस्तु और व्यंजना-शैली दोनों बातों में बड़ा प्रभावपूर्ण और जन-प्रिय सुधार होता गया है। इस विकास-रेखा से भारतीय भाषाओं के साहित्य में इस विकास का अध्ययन करना उपयुक्त होगा मैं मराठी-साहित्य का विस्तार से और अन्य भाषाओं का संक्षेप में एक अध्ययन आगे प्रस्तुत कर रहा हूँ। जिसकी तुलना में हिन्दी के निबन्ध-विकास को हम अच्छी तरह आँक और परख सकेंगे।

: ५ :

मराठी निबन्ध-साहित्य बहुत समृद्ध है। विल्सन ने मोलस्वर्थ के मराठी-अंग्रेजी-कोश की भूमिका में कहा है कि "१८३१ से १८५७ ईस्वी का काल गद्य का युग था। अध्यापकों और अनुवादकों ने मराठी भाषा-शैली को समृद्ध बनाया।" इस काल-खण्ड में मराठी अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क में आई। कई पत्रिकाएँ निकलीं और इनका प्रभाव निबन्ध के विकास पर बहुत गहरा पड़ा। विशेषतः प्रसिद्ध मासिक 'विविध-ज्ञान-विस्तार' (सं० १९२४) और 'निबन्धमाला' (सं० १९३१) का बहुत बड़ा हाथ निबन्ध-विकास में रहा है। ये निबन्ध उच्चकोटि के काव्य-शास्त्र-विनोद के सुन्दर नमूने रहे हैं। इनमें मद्य-पान-निषेध, ऋण-विमोचन, प्रकृति-सौन्दर्य आदि विषय रहते थे। उस युग के प्रमुख निबन्धकार थे कृष्णशास्त्री चिपलूणकर (सं० १८८१ से १९३१), लोक-हितवादी (सं० १८८०-१९४६), गोविन्दनारायण माडगाँवकर, विश्वनाथ-नारायण मण्डलीक आदि। कृष्णशास्त्री चिपलूणकर ने 'अर्थशास्त्र परिभाषा', 'अनेकविद्यामूलतत्त्व संग्रह' आदि अनेक अनुवादित ग्रन्थ लिखे। कृष्णशास्त्री ने 'विचार लहरी' नामक त्रैमासिक पत्रिका का संचालन करते हुए ईसाई-धर्म-प्रचारकों का विरोध किया। गोपाल हरि देशमुख या लोक हितवादी ने 'आगम प्रकाश', 'जाति-भेद', 'निगम प्रकाश', 'पानीपत का युद्ध' आदि विचार-प्रवर्तक ग्रन्थों के साथ-ही-साथ कई फुटकर निबन्ध भी लिखे। महात्मा ज्योतिष फुले (संवत् १८८४-१९४७) बड़े प्रखर आदर्शवादी और समाज-सुधारक थे। आपने 'गुलामगिरी' (सं० १९५०) 'ब्राह्मणों की चालाकी' आदि ग्रन्थ लिखे। विष्णुबुवा ब्रह्मचारी (सं० १८८२-१९४३) का दृष्टिकोण सनातनी था और 'वेदोक्त धर्मप्रकाश' (सं० १९१३) उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। परन्तु यह सब लेखन निबन्ध की पूर्व तैयारी के रूप में था। सच्चे अर्थ में निबन्ध का आरम्भ विष्णुशास्त्री चिपलूणकर से हुआ। उन्होंने अपने विचारों में पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारों का समन्वय प्रस्तुत करना चाहा। 'मराठी साहित्य के इतिहास' के लेखक प्रो० गोडबोले के शब्दों में विष्णुशास्त्री एक साथ ही हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी दोनों ही थे। 'निबन्धमाला' नामक अपनी पत्रिका में उन्होंने अपनी विद्वत्ता, प्रभावशाली शैली और मनोरंजक विषय-प्रतिपादन का सुन्दर संश्लेषण उपस्थित किया। कृष्णशास्त्री और विष्णुशास्त्री इन दो चिपलूणकर-पिता-पुत्रों के विषय में आलोचक ग० त्र्यं माडखोलकर ने लिखा है कि "पिता की सौम्य और प्रसन्न भाषा-शैली का ही विकास पुत्र की 'निबन्धमाला' की प्रौढ़, ओजस्विनी एवं सालंकृत-

भाषा में हुआ।''

चिपलूणकर के बाद मराठी-निबन्ध में वह युग आता है जब बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों समाज-सुधारकों और पत्रकारों ने इस साहित्य-प्रकार का अस्त्र की भाँति उपयोग किया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (सं० १९१३ से १९७७) ने जीवन के पच्चीसवें वर्ष में अपने साथी गोपाल गणेश आगरकर के साथ स्थापित किये हुए पत्र 'केसरी' से इस युग का आरम्भ किया। आगरकर ने सात वर्ष बाद 'सुधारक' पत्र आरम्भ किया। आगरकर ने बुद्धिवादी समाज-सुधार-विषयक विचारों का प्रवर्त्तन किया। इसी परम्परा में महादेव गोविन्द रानडे तथा गोपालकृष्ण गोखले आते हैं। परन्तु चिपलूणकर की जो विद्वत्तापूर्ण खोजभरी परम्परा थी, उसमें बैजनाथ काशिनाथ राजवाडे शिवराम महादेव परांजपे (१९२१-१९८४ सम्वत्), चिन्तामणि विनायक वैद्य आदि सभी का इतिहास और मध्य युग का अध्ययन विशेष प्रिय विषय था। परन्तु इन सबका काव्य-शास्त्र-विनोद बहुत-कुछ बौद्धिक साधना का ही कार्य था। तिलक के व्यक्तित्व में यह बौद्धिकता भाव-जगत् का अंश बन गई। उनकी शैली शिवराम महादेव की तरह से कटु-तिक्त न होकर भी तीखी और पैनी, प्रखर और दो टूक, साथ ही दृढ़ और तर्कयुक्त थी। नरसिंह चिन्तामणि केलकर तथा विनायक दामोदर सावरकर उसी तिलक-सम्प्रदाय के निबन्ध-लेखक हुए। प्रो० फड़के ने कहा है कि सन्० १८८० से १९२९ तक मराठी-निबन्ध का रूप मत-प्रचार के हेतु से लिखे सम्पादकीय का-सा था।

गांधी-युग में इस गम्भीर समाज-शास्त्र-विषयक साहित्यिक-छटायुक्त निबन्ध ने दूसरा ही मार्ग अपनाया और वामन मल्हार जोशी-जैसे तत्त्व-चिन्तक के हाथों वह दर्शन-प्रधान बना और मूलग्राही विवेचना करने लगा। आचार्य विनोबा भावे के 'मधुकर'-जैसे संग्रह में, आचार्य भागवत, काका कालेलकर आचार्य जावडेकर, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी आदि उसी सर्वग्राही सत्य-शोधक परम्परा-सरणि के आज के उल्लेखनीय महनीय मणि हैं।

परन्तु इस प्रकार के निबन्ध से भिन्न, जिसे साहित्यिक अर्थों में आत्म-निबन्ध कहते हैं, उस हल्के-फुल्के, परिहास और विच्छित्ति से भरे निबन्ध का सूत्रपात श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'सुदाम्याचे पोहे' से होता है। 'साहित्य-बत्तीशी' नामक संग्रह में उनकी यह शैली दिखाई दी जिसमें हास्य के आलम्बन के नाते एक काल्पनिक चरित्र का निर्माण उन्होंने किया। बाद में चिन्तामणि विनायक जोशी ने 'चिमणराव' के रूप में और मा०श्री० तात्रिणकर के 'दाजी' के रूप में ऐसे ही अमर हास्यपूर्ण चरित्र निर्मित हुए। परन्तु कोल्हट-

कर-गडकरी के ज़माने तक भी निबन्ध ऑडिसन के ढंग पर चलता था।

निबन्ध को और भी आधुनिक रूप में यानी गार्डिनर, चेस्टरटन, हिलेअर बेलाक के ढंग पर लाने का सारा श्रेय प्रो० ना० सी० फड़के, वि० स० खाण्डेकर, डा० वि० पा० दाण्डेकर, अनन्त काणेकर, ना० भ० सन्त, दत्तू बान्देकर, पु० ल० देशपाण्डे आदि लेखकों को है। इन सबमें प्रो० ना० सी० फड़के का कार्य बहुत बड़ा है। अपने 'गुजगोष्टी' (बतकही) संग्रह से आत्म-निबन्ध या ललित निबन्ध को उन्होंने मराठी में रूढ किया। 'नवे सेणों' नामक चौबीस प्रातिनिधिक निबन्ध-लेखकों के संग्रह की जो हृद्य भूमिका प्रो० फड़के ने लिखी है, उसमें इस निबन्ध-शैली के स्वरूप-विवेचन का बहुत-सा भाग आ गया है। प्रो० फड़के के शब्दों में "पहले निबन्ध पढ़ा जाता था सो उसमें के पाण्डित्य के लिए। निबन्ध का विषय पाठक के लिए महत्त्वपूर्ण था।........परन्तु नये ढंग के निबन्धों में विषय का महत्त्व लुप्त हो गया है। मत-प्रचार और पाण्डित्य-प्रदर्शन यह हेतु अब छूट गए हैं। विषय की अहमियत अब नहीं रही। अब पाठक को निबन्धकार के व्यक्तित्व में अधिक रस है। चतुर और कुशल निबन्ध-लेखक को विषय का ज्ञान भी आवश्यक नहीं है। बल्कि यों कहें कि किसी एक विषय-विशेष की भी आवश्यकता नहीं है। आधुनिक ललित-निबन्ध को विषय की मर्यादा नहीं है।........आधुनिक निबन्ध बहुत-कुछ संभाषण की शैली पर है और सुहृद्भाव उसकी आत्मा है। आधुनिक निबन्ध में पाण्डित्य, संकोच और सचेष्ट रचना का भी अभाव रहता है।"

यदि इन सब निष्कर्षों को ध्यान में रखकर मराठी के ललित निबन्धों के लेखकों और उनके कुछ संग्रहों की सूची बनावें तो ये नाम प्रमुखता से सामने आयेंगे—

(१) *प्रो० ना० सी० फड़के* : 'गुजगोष्टी', 'धूम्रवलयें'; (२) *वि० स० खाण्डेकर* : 'वायु लहरी', 'सायंकाल', 'चांदण्यांत', 'अविनाश', 'मन्दाकिनी', 'कल्पलता'; (३) *अनन्त काणेकर* : 'पिकली पानें', 'शिंपले आणि मोती', 'तुटलेले तारे', 'राखें तील निखारे', उघड्या खिडक्या'; (४) *ना० भ० सन्त* : 'उघडे लिफाफे'; (५) *बा० भ० बोरकर* : 'कागदी', 'होड्यी'; (६) *डॉ० वि० पा० दाण्डेकर* : 'फेरफटका', 'टेकडीवाह'; (७) *शंकर साठे* : 'काजवे'; (८) *दत्तु बान्देकर* : 'नजरबन्दी'; (९) *पु० ल० देशपाण्डे* : 'खोगीर भरती'; (१०) *गो० रा० दोडके* : 'साहित्याशिख'; (११) *र० गो० सरदेसाई* : 'कागदी विमाने', (१२) *वि० द० सालगांवकर* : 'किमा-थामर';

(१३) रा० अ० कुम्भोजकर : 'रस्ते आणि फिरस्ते' इत्यादि।

मराठी लघु निबन्ध ने इतनी मंजिल तै की है कि तीन वर्ष पूर्व 'अभिरुचि' नामक साहित्यिक मासिक ने एक अपना विशेषांक इसी निबन्ध-प्रकार को लेकर प्रकाशित किया था। यद्यपि उस समय उच्च कोटि का कोई निबन्ध न होने से पुरस्कार किसी को नहीं दिया गया। संक्षेप में, मराठी में निबन्ध-विकास की यही कहानी है। वि० स० खाण्डेकर द्वारा लिखित एक उत्तम मराठी-निबन्ध का अनुवाद 'देवनागर' (अंक १) में प्रकाशित हुआ था। खाण्डेकर के एक और निबन्ध 'चान्द्रयान्त' का अनुवाद मैंने 'हंस' में प्रकाशित कराया था, सन् १६३६ में।

: ६ :

मराठी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में भी निबन्ध की प्रगति बहुत आधुनिक ही है। मैंने अन्य भाषाओं के निबन्ध के विषय में जो जाना है वह संकलन-रूप से प्रस्तुत करता हूँ। बंगला में आधुनिक गद्य के जन्मदाता थे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। डॉक्टर सुकुमार सेन के शब्दों में : "बंगला-गद्य को सब दोषों से दूर करके, उसका पंगुत्व छुड़ाकर, उसको उच्च श्रेणी के साहित्य का वाहन बनाने का असाध्य-साधन" उन्होंने किया। उनके "पहले के गद्य में या तो शुद्ध दाँत-तोड़ संस्कृत अथवा चलित भाषा के शब्दों का अनुचित बाहुल्य रहता था या दोनों का शोभा-शून्य दुष्प्रयोग। विद्यासागर महाशय ने इन दोनों प्रकार के शब्दों के प्रयोग में ऐसा सामंजस्य स्थापित किया कि उससे भाषा की ओजस्विता भी नष्ट नहीं हुई और रचना का लालित्य भी उसमें आ गया।" ('बंगला-साहित्य की कथा', पृष्ठ १२७)। ईश्वरचन्द्र के सहयोगी अक्षयकुमार दत्त (१८२०-१८८६) ने न केवल ब्राह्म-समाज की पत्रिका 'तत्त्व बोधिनी' का सम्पादन किया, परन्तु 'बाह्य वस्तु के साथ मानव-प्रकृति के सम्बन्ध का विचार'-जैसे निबन्ध भी लिखे। १९वीं शती के मध्य-भाग में जिन्होंने बंगला-गद्य की प्रतिष्ठा में विशेष सहायता की उनमें राज-नारायण बसु, राजेन्द्रलाल मित्र, ताराशंकर तर्करत्न, राजकृष्ण बन्द्योपाध्याय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा कृष्णकमल भट्टाचार्य मुख्य थे।

परन्तु प्रबन्ध से निबन्ध की ओर बंगला-गद्य को मोड़ने का श्रेय बंकिम-चन्द्र चट्टोपाध्याय (१८३८ ई०-१८९४ ई०) को है। 'बंग-दर्शन' पत्र द्वारा उन्होंने बंगला-गद्य में समालोचना को प्रतिष्ठित किया, साधारण गद्य की गति ही मोड़ दी। उनके सहयोगी दीनबन्धु मित्र ने भी उनकी पत्रिका में लेख

लिखे। अक्षयचन्द्र ने गद्य-रचना में 'साधारणी' और 'नवजीवन' पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं। इन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय; 'बंगवासी' के प्रतिष्ठापक योगेशचन्द्र वसु, 'बान्धव' के सम्पादक कालीप्रसन्न घोष, 'आर्य दर्शन' के सम्पादक योगेन्द्र भूषण विद्याभूषण के नाम बंगला-गद्य-निर्माण के मध्य खण्ड में लिये जाते हैं।

इनके बाद रवीन्द्रनाथ तथा शरच्चन्द्र वाले रवि-चन्द्र-युग में काव्य और उपन्यास की कोटि का महत्त्व यद्यपि निबन्ध को नहीं मिला, फिर भी राजशेखर वसु (परशुराम), रजनीकान्त दास, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, क्षितिमोहन-सेन, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, अन्नदाशंकर राय, प्रबोधकुमार सान्याल, बनफूल, बुद्धदेव वसु, गोपाल हालदार, सैयद मुज्तबा अली, गुरुदयाल मलिक, सत्येन्द्र मजूमदार आदि अनेक लेखकों ने निबन्ध-कला को विविध रूपों से सँवारा और अभी भी विकसित कर रहे हैं।

गुजराती में आधुनिक काल में किशोरलाल मश्रूवाला, आनन्दशंकर-बापूभाई ध्रुव, द्विवेटिया, भट्ट, 'द्विरेफ', कन्हैयालाल मुन्शी, काका कालेलकर, रविशंकर रावल, नरहरि पारीख, ज्योतीन्द्र दवे, किशनसिंह चावडा के नाम निबन्ध-लेखकों में बहुत आदर और प्रेम के साथ लिये जाते हैं।

उर्दू में शिबली-जैसे आलोचकों और हाली और ग़ालिब-जैसे पत्र-लेखकों के बाद निबन्ध के क्षेत्र में अबुल कलाम आज़ाद की अपनी एक शैली मानी जाती है। मुजीब और मिर्ज़ा महमूद बेग का अपना खास रंग है। वैसे 'पितरस' मज़ामीन अपने ढंग के एक थे, अब किशनचन्दर के 'फूल और काँटे' और कन्हैयालाल कपूर के कुछ निबन्ध उस शैली पर चल रहे हैं। रामबाबू सक्सेना के 'उर्दू साहित्य के इतिहास' (गद्य-खण्ड) में इसकी कुछ रूप-रेखा दी गई है।

उड़िया-साहित्य में गम्भीर निबन्धों के क्षेत्र में शशिभूषण राय, बिपिन-बिहारी राय, जनार्दन महन्थी, रत्नाकर पति, लक्ष्मीनारायण साहू, सिद्धेश्वर होता तथा सरलादेवी प्रमुख हैं। इनके लेख मुख्यतः दार्शनिक पुट लिये प्रकृति-वर्णन-विषयक होते हैं।

आधुनिक असमिया साहित्य का उत्थान सन् १८८८ से हुआ। निबन्ध-लेखकों में कृष्णकान्त हांडिकी, बाणीकान्त काकाती और डिम्बेश्वर नियोग साहित्यिक विषयों पर तथा सूर्यकुमार भुइयाँ और वेणुधर शर्मा इतिहास तथा जीवनी-साहित्य लिखते रहे हैं। परन्तु पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे यत्र-तत्र प्रयत्नों को छोड़कर आधुनिक ललित-निबन्ध असमिया में विकसित नहीं है।

जहाँ तक दक्षिण भारत की तीनों भाषाओं का प्रश्न है, पद्य-साहित्य के विकास के साथ-ही-साथ वहाँ निबन्ध-साहित्य भी बहुत विकसित होता गया है। तमिल में गद्य-साहित्य बहुत पुराना है। ईसा से २००वर्ष पूर्व से 'शिलप्प-धिकारम्' से मिलता है। मध्यकाल में वि० गो० सूर्यनारायण शास्त्रीजी (१८७२-१९०३ ईस्वी) ने तमिल भाषा का इतिहास प्रकाशित किया और तमिल-नाटकों पर 'नाटक-इयल्' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। आधुनिक निबन्ध-लेखकों में 'नवशक्ति'-सम्पादक कल्याणसुन्दर मुदालियर, डॉ० स्वामिनाथ अय्यर, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, विद्वान टी० पी० मीनाक्षि सुन्दरम् पिल्लई प्रसिद्ध हैं।

तेलुगु भाषा के अभिनूतन उत्थान में 'साहित्य-समिति' तथा 'नव्य-साहित्य-परिषद्' नामक दो संस्थाओं का सहयोग विशेष रूप से है। परन्तु जहाँ तक निबन्ध का सम्बन्ध है अंग्रेजी-साहित्य से परिचित श्री कुन्दकूरि वीरेश-लिंगम् पन्तलु ने पाश्चात्य पद्धति के साहित्य की अभिव्यंजना-पद्धति को अपनाया और तेलुगु के नवीन उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अपने समाज-सुधारक विचारों का प्रचार जोरों से किया, जिनके प्रचार में उन्हें पानगुण्टि तथा चिलकमूर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् का बड़ा सहयोग मिला। बीसवीं सदी के साथ-साथ नये-नये प्रश्न आन्ध्र-साहित्य के सम्मुख आये। और मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री तथा भमि डिपाटि कामेश्वरराव के शिष्ट हास्य, चिन्ता दीक्षितुलु के बाल-सुलभ कथा-लेखन, और रालपल्ली अनन्तकृष्ण शर्मा, वेट्टूरि प्रभाकर शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, पुट्टपूर्ति नारायणाचारी आदि की समालोचनाएँ निबन्ध के निकटतम आती हैं परन्तु एक साहित्य प्रकार के नाते यह पर्याप्त विकसित नहीं हुआ है।

कन्नड़-साहित्य की प्रकृति तमिल और तेलुगु से अधिक गम्भीर विषयों की ओर है। पुट्टप्पा, मास्ती वेंकटेश आय्यंगार, प्रो० गोकाक, मुगली, आर० वी० जहागीरदार, बेटगेरिकृष्ण शर्मा, कोटेश्वर शिवराम कारंत आदि निबन्ध-लेखकों में प्रख्यात हैं। 'नवकर्नाटक', 'जय कर्नाटक'-जैसे पत्रों से १९२५ ई० के बाद ही कन्नडवासियों की स्फूर्ति प्रेरणा से ये रचनाएँ बढ़ी हैं। परन्तु अभी इस शैली का विकास और होना है।

संक्षेप में, भारतीय भाषाओं के सभी साहित्यों में आधुनिक कथित निबन्ध अभी एक नया उगा हुआ पौधा है, जो समुचित सिंचन पाने पर अधिक अच्छी तरह विकसित होगा।

: ७ :

शैली क्या है ? इसके उत्तर में विद्वानों का एक मत नहीं है ? किसी ने शैली को ही मनुष्य कहा है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के ढंग पर। किसी ने शैली को केवल बदलता हुआ फैशन या ऊपर से पहना जाने वाला कोट माना है। तो किसी के लेखे शैली लेखक-शरीर की त्वचा है, जो उससे अलग नहीं की जा सकती। अभी-अभी कुछ वर्षों पूर्व तक शैली को एक बाह्य वस्तु माना जाता था, और उसे अनुकरणीय या शोध-सुधार करने के योग्य माना जाता था। अब साहित्य में शैली को इतना ऊपरी-ऊपरी नहीं समझा जाता। वाल्टर रैले के शब्दों में "All style is gesture, the gesture of the mind and of the soul. Mind we have in common, in as much as the laws of right reason are not different for different minds."[१] यह साधारणीकरण मान्य करके भी रैले मानता है कि शैली में कुछ ऐसा गुण होता है जो लेखक के व्यक्तित्व से अत्यन्त निगडित है। अतः उससे से निस्तार नहीं है ? लेखक अपने लेखन से निर्लिप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार से उस लेखक की शैली भी उसकी 'अपनी' विशेषता है। चित्रमयता, नादमयता, अर्थबहुलता, नकार का प्रयोग, ग्राम्य-भाषा का प्रयोग या भद्देपन, स्वच्छन्दता या सुव्यवस्थितता, वक्रता या सादगी, अन्य विचारों की ग्रहण-शीलता, सूक्तिबहुलता, अपने माध्यम पर अधिकार, अपने पाठक या श्रोता का अहसास, प्रामाणिकता, अलंकरण या अलंकरण-हीनता, शील और शक्ति का सौन्दर्य और मर्यादा, शब्द-संचयन, सन्दर्भ-प्रधानता, नाट्य-गुण आदि अनेकानेक गुणों का समाहार है लेखक की शैली। और इसके सबके बाद यह प्रत्येक लेखक की अपनी भिन्न है।

कहने वाले अब भी कहते हैं कि हिन्दी का कोई रूप अभी स्थिर नहीं। परन्तु डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' किताब की भूमिका—'ग्रन्थ के परिचय' में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था—"हिन्दी-गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर हुए बहुत दिन हो गए। उसके भीतर विविध शैलियों का विकास भी अब पूरा देखने में आ रहा है।" इस दिशा में पहला प्रयत्न जोधपुर के पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए० ने अपनी 'हिन्दी-गद्य-मीमांसा' में किया था। पर उनका मुख्य उद्देश्य नमूनों का संग्रह-मात्र करना था। परन्तु डॉ० शर्मा ने "भिन्न-भिन्न लेखकों की प्रवृत्तियों के स्पष्टी-करण और वाग्विधान की विशिष्टताओं का अन्वेषण" अधिक किया है। तदैन

१. Style, page 127

वर्ष पूर्व लिखी इस भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के विषय में जो कहा वह आज भी बहुत सही है—"हिन्दी के वर्तमान लेखकों में से कुछ में तो शैली की विशिष्टता उनकी निज की भाव-पद्धति और विचार-पद्धति के अनुरूप अभिव्यंजना के स्वाभाविक विकास द्वारा आई है और कुछ में बाहर के अनुकरण द्वारा।""पर शैली की विशिष्टता के विन्यास के पूर्व भाषा की सामान्य योग्यता अपेक्षित होती है। आजकल हिन्दी लिखने वालों की संख्या सौभाग्य से उत्तरोत्तर बढ़ रही है। पर यह देखकर दुःख होता है कि इनमें से बहुत-से लोग प्रारम्भिक योग्यता और अभ्यास प्राप्त करने बहुत पहले ही विशिष्टता के प्रार्थी दिखाई पड़ते हैं।"

अंग्रेज़ों के आने के बाद गद्य लिखने का रिवाज बढ़ा। छापाखाने आए। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। अनुवाद हुए। कुछ लेखकों की शैली में पण्डिताऊपन था, तो कुछ-कुछ का वाक्य-विन्यास फारसी ढंग पर था और मुहावरेदानी उर्दू से भरी थी। यों भारतेन्दु-युग-पूर्व के निबन्धों में तुकान्तों का प्रेम, अन्तिम क्रिया का लोप आदि मिलता है, जो शैली भारतेन्दु के समय में निखार पर आ गई। निबन्धों के विषयों में भी विस्तार हुआ। स्वप्नों के रूप में व्यंगरूपक, स्तोत्र, उपालम्भ आदि के साथ-साथ व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की नींव भी इसी युग में पड़ी।

परन्तु यह मस्ती और स्वच्छन्दता अधिक काल तक टिकी न रह सकी। द्विवेदीजी के समय में आकर निबन्ध का रंग-रूप दूसरा ही हो गया। द्विवेदीजी सम्पादक थे, व्यवस्थाप्रिय थे, भाषा में सँजाव के प्रेमी। 'सरस्वती' का सम्पादन-भार उन्होंने १९०३ में ग्रहण किया। उससे पहले निबन्ध का रास्ता दिखाने वाले दो अनुवाद प्रकाशित हुए थे—'बेकन विचार रत्नावली' और चिपलूणकर का 'निबन्धमालादर्श'।[1] द्विवेदीकालीन लेख 'बातों के संग्रह' अधिक होते थे, उनमें स्थायी निबन्ध के तत्त्व कम थे। उनमें जानकारी इकट्ठा करने और देने पर अधिक ज़ोर था, रोचकता पर कम।

इस पत्रकारिता के स्तर से उठकर धीरे-धीरे हिन्दी-निबन्ध व्याख्यात्मक बना। उसमें और घरेलूपन आने लगा। परिहास और व्यंग्य के पुट ने भी उसमें मिर्च-मसाला बढ़ाया। निबन्ध-शैली धीरे-धीरे आकार ग्रहण करने लगी और करती जा रही है। वह आधुनिक से आधुनिकतम बनती जा रही है। वह सभी भारतीय भाषाओं के संस्कार ग्रहण करती जा रही है। उसके विषयों में जैसे-जैसे नयापन आता जा रहा है, भाषा की अर्थवाहक

१. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा अनूदित

शक्ति भी बढ़ रही है।

गम्भीर निबन्धों में समालोचनात्मक निबन्ध एक ओर विकसित होते गए हैं। डॉक्टर श्रीकृष्णलाल ने 'निबन्ध-संग्रह' की भूमिका में पृष्ठ २० पर कहा है कि—"द्विवेदी-युग में समालोचनात्मक निबन्ध पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत किये गए, परन्तु उनका स्तर बहुत ऊँचा न था। काव्य की बहिरंग परीक्षा और चमत्कार के उद्घाटन में ही लेखकों का ध्यान लगा रहा। इसी समय बंगला, मराठी और अंग्रेज़ी के कुछ समालोचनात्मक निबन्धों के अनुवाद प्रकाशित हुए, जिनमें कवीन्द्र रवीन्द्र का 'प्राचीन साहित्य' और द्विजेन्द्र-लाल राय का 'कालिदास और भवभूति' दो विशिष्ट समालोचनात्मक निबन्ध थे। द्विवेदी-युग समालोचनात्मक निबन्धों की तैयारी और प्रयोग का युग था; अस्तु, उस युग में इस प्रकार के निबन्धों का स्तर बहुत ऊँचा न उठ सका। छायावाद-युग समालोचनात्मक निबन्धों के विकास का युग माना जा सकता है।···इस समय रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, तथा छायावाद-युग के उदीयमान कवि और लेखक—पन्त, प्रसाद, 'निराला' तथा नन्ददुलारे बाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, गुलाबराय आदि समालोचना के क्षेत्र में अपनी नवीन चेतना लेकर प्रविष्ट हुए।····छायावाद-युग के अन्त और प्रगतिवाद के युग में अनेक नये आलोचक हिन्दी के क्षेत्र में उतरे, जिनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शांतिप्रिय द्विवेदी, 'अज्ञेय', नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं।" विद्वान् लेखक ने बनारसीदास चतुर्वेदी को छायावाद का लेखक कैसे माना है और शान्तिप्रिय द्विवेदी, 'अज्ञेय', नगेन्द्र आदि कैसे प्रगतिवादी युग के आलोचक हैं, वह वही जानें। परन्तु परम्परा का रेखाचित्र जो उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह संक्षेप में सही है। आलोचनात्मक निबन्धों के विकास-क्रम की रेखा का विस्तार से विवेचन मैंने अपनी दूसरी पुस्तक 'समीक्षा की समीक्षा' में किया है।

निबन्ध का हिन्दी में विकास

हिन्दी-गद्य के सर्वांगीण विकास में पत्र-पत्रिकाओं का भी बड़ा योग रहा है। 'हिन्दी पत्रों के सवा सौ वर्ष' नामक १६४६ में प्रकाशित ४० पृष्ठों के अपने निबन्ध में श्री कन्हैयालाल सहल ने कहा है कि हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र 'बनारस अखबार' माना जाता है, जो सन् १८४५ में प्रकाशित हुआ था और जिसके सम्पादक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे; परन्तु पहला पत्र था 'उदन्त मार्तण्ड', जिसका ३० मई १८२६ को सबसे पहला अंक निकला था। यह प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था। इसके सम्पादक थे कानपुर के पं० जुगलकिशोर शुक्ल। इस पत्र की खड़ी बोली को मध्यदेशीय भाषा कहा जाता था। यह हिन्दी का पहला पत्र केवल १½ वर्ष चला और ४-१२-१८२७ को इसका अन्तिम अंक निकला।

यों पूर्व भारतेन्दु काल, भारतेन्दु काल, उत्तर भारतेन्दु और द्विवेदी-काल तथा वर्तमान काल तक पत्रों का विकास स्वयमेव एक मनोरंजक विषय है। गद्य के अन्य प्रकार तथा निबन्ध, समालोचना, प्रत्यालोचना, साहित्यिक पत्र-व्यवहार, डायरी, रिपोर्ट आदि के लिए भी नियतकालिक ही सबसे बड़ा माध्यम रहे हैं। हिन्दी-गद्य-शैली के विकास का अध्ययन इनके बिना पूर्ण नहीं हो सकता। अनुवाद की भाषा भी दिन-ब-दिन कैसे समृद्ध होती गई यह इन्हीं से जाना जा सकता है। पहले पत्र की सवा सौ वर्ष पुरानी हिन्दी का नमूना पढ़िये—"यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु, जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अंग्रेजी औ पारसी औ बंगाले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख बोलियों के जानने और पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ और समझ लें और पराई अपेक्षा न करें जो अपने भाषे की उपज न छोड़ें इसलिए......"

किसी भी भाषा की शैली का विकास कैसे होता है इसके अनेक सामाजिक-ऐतिहासिक कारण हैं। भाषा की ग्राहिका-शक्ति जब तक सजीव है, तब तक वह सप्राण, गतिमान भाषा है। भारतेन्दु-युग की भाषा आज भी छलछलाती, चटपटी, सप्राण भाषा जान पड़ती है। उसका कारण तब हिन्दी अपनी जड़ों के अधिक निकट थी। पूर्वी हिन्दी, भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों से वह अधिक सन्निकट थी। उसी की लोकोक्तियों और मुहावरों से वह समृद्ध भी बनी। बंगला के प्रभाव से वह संस्कृतमयी, शुद्ध और अलंकरणयुक्त एक प्रकार से हुई; तो उर्दू के संस्कार ने उसके खड़ी-बोलीपन को सँवारा और माँजा। अंग्रेजी के प्रभाव ने हिन्दी-अभिव्यञ्जना में दुरूहता, गहनता और बोझिलता ला दी। यद्यपि शब्दों की छटाओं (शेड्स) को व्यक्त करने की ओर भी हमारे लेखकों का विश्लेषण-प्रधान मस्तिष्क बढ़ा। अन्य देशी-विदेशी भाषाओं के भी प्रभाव पड़े हैं: यथा गुजराती की सादगी का गांधी और अन्य गांधीवादी लेखकों-विचारकों की शैली की मारफत। मराठी का प्रभाव समाचार-पत्रों की भाषा से अधिक नहीं पड़ा है और दक्षिण-भारत की अन्य भाषाओं का प्रभाव धीरे-धीरे हिन्दी पर पड़ेगा ऐसा जान पड़ता है।

अत्याधुनिक हिन्दी-गद्य के निर्माताओं के नाम गिनाना यहाँ अपेक्षित नहीं है। परन्तु बहुत थोड़े अपवाद छोड़ दें तो सभी लेखकों की रचनाओं में एक प्रकार की भाषा की निबिड़ता अथवा सघनता पाई जाती है। वह अंशतः युग की समस्या-मूलक चिन्ता के कारण भी है और दूसरे अपने माध्यम पर पूर्ण अधिकार के अभाव के कारण भी है। इधर ललित गद्य के भावात्मक आत्म-निबन्धों के क्षेत्र में, जिन निबन्धों को बलवन्त राय ठाकोर नामक गुजराती समीक्षक निबन्धिका कहते हैं, बहुत-सा कार्य हो रहा है। और हिन्दी में साहित्यिक भाषा को बोल-चाल की भाषा के निकटतम लाने का बहुत-सा यत्न हो रहा है, जो बहुत शुभ है। आलोचना की भाषा एक बार पं० पद्मसिंह शर्मा के समय जो निरी रस-ग्रहण की भाषा थी उसे पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वैज्ञानिक, सन्तुलित रूप दिया था। बहुत-से समाचार-पत्रीय लेखन ने उस स्तर को नीचे गिरा दिया है और हमारे कुछ आलोचक शब्दों का अनावश्यक धुँधला और चमत्कारिक प्रयोग करने लग गए, यह दुःख की बात अवश्य है। फिर भी हिन्दी-गद्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। क्योंकि उसमें गति है, प्राण है और सतत-ऊर्ध्वगामिनी क्षमशालता है।

भारतेन्दु-पूर्व-काल के एक महत्त्वपूर्ण लेखक थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, जिनकी उर्दू शैली ने हिन्दी में एक नया चलन चलाया। दूसरा

शैली में प्रेमचन्द ने आगे लिखा और इस प्रकार से लिखित भाषा बोली हुई भाषा के निकट लाई गई। यद्यपि फिर कुछ संस्कृत-बहुलता के प्रेमियों ने हिन्दी को दुरूह और दुर्बोध बनाने का यत्न किया, पर राजा शिवप्रसाद का उद्देश्य था कि 'लिपि देव नागरी हो और भाषा ऐसी मिली-जुली रोज़मर्रा की बोल-चाल की हो कि किसी दल वाले को एतराज़ न हो।' डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने दो उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि उनकी शैली में परिवर्तन होता गया। उनकी शैली उत्तरोत्तर उर्दूमय बनी जैसे इस वाक्य से लक्षित होता है—"इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अंग्रेज़ी के भी शब्द कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक-दमक और रौनक पावें, न इस बेतरतीबी से कि जैसे अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिन्द कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इन्तिज़ाम मुन्तज़िम की अक़्लमन्दी की गवाही देता है।"

राजा लक्ष्मणसिंह उनके विपरीत संस्कृत-गर्भित भाषा लिखते थे। 'शकुन्तला' के अनुवाद की भाषा से जाना जा सकता है कि उनकी रचना में ब्रजभाषा की भी पुट रहती थी। उदाहरण के तौर पर उनका यह वाक्य देखिये—"पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किये उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन-रात मन विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है, परन्तु बोझ भी देता है।"

हरिश्चन्द्र के लेखन में इन दोनों ही पद्धतियों का समुचित परिपाक-सा हुआ है। यद्यपि पलड़ा उनका संस्कृत की ओर ही झुका हुआ है। परन्तु उनका गद्य पढ़कर आज भी लगता है जैसे हम आधुनिकतम रचना पढ़ रहे हैं। कौन कहेगा कि निम्न लिखित अवतरण भारतेन्दु का होगा?

"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है। कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है। कोई मत-मतान्तर के झगड़ों में मतवाला हो रहा है। हरएक दूसरे को दोष देता है। अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धान्त कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खण्डन-मण्डन में वह जन्म बिताता है।"

भारतेन्दु-युग में निबन्ध-रचना जैसे निखरी और जिस ऊँचाई पर पहुँची, उसके बाद वैसा और इस पेड़ को नहीं आया। अब तो उम्मीद

कीजिये कि "ऐहें बहुरि बसन्त ऋतु, उन बागन, उन फूल।"

अगर सन्-संवत् के हिसाब से चला जाय तो बीसवीं सदी के इन चौवन वर्षों में निबन्ध के प्रमुख रचनाकारों का तिथि-क्रम द्विवेदीजी से शुरू होगा। संवत् १६५० (सन् १८६४) में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। साहित्य का कार्य बहुत-कुछ भाषा और लिपि-विषयक प्रचार, परिभाषा-निर्माण आदि ठोस कार्यों की ओर मुड़ गया। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पृष्ठ ४८७ पर लिखा है कि "नूतन हिन्दी-साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता-खेलता सामने आया था। भारतेन्दु के सहयोगी लेखकों का वह मण्डल जिस जोश और जिन्दादिली के साथ और कैसी चहल-पहल के बीच अपना कार्य कर गया, इसका उल्लेख हो चुका है।....भारतेन्दु-जी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ-न-कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया था। यह नवीन साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरम्भ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।"

बाद में शुक्लजी पृष्ठ ४६२ पर लिखते हैं कि इस द्वितीय उत्थान-काल में एकदम पाँच-सात विशिष्ट लेखकों के नाम नहीं बताए जा सकते। फिर इसका कारण यह था कि "बहुत-से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार-नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते और कभी इतिहास और पुरातत्त्व की बातें लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले गूढ़-गम्भीर निबन्ध-लेखक कहाँ से तैयार होते ?"

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले सामने आता है। उनकी विशेषता इसीमें थी कि निबन्ध-लेखन को उन्होंने पत्रकार-कला से जोड़ दिया। सामयिक विषयों पर और कभी-कभी टिप्पणी-जैसे दो-दो तीन-तीन पृष्ठों के उनके कुल २५० निबन्ध मिलते हैं। निबन्धों का आरम्भ तथ्य-कथन के रूप में होता है। उनकी मधुकर की-सी संग्राहक वृत्ति है। अतः वे मौलिकता का कोई दम्भ नहीं करते। सब जगह जहाँ से कोई भी चीज ली हो उस स्रोत का उल्लेख अवश्य कर देते हैं। अपनी बात निर्भयता से कहते थे। और साहित्य के समूचे विचार-पक्ष का एक प्रकार से सर्वांगपूर्ण नेतृत्व भी करते थे। उनका एक निबन्ध 'पुस्तकों का समर्पण' नाम से है। उसमें से यह उदाहरण हमारी बात की पुष्टि करेगा। वे कहते हैं—"कुछ समय से हिन्दी-पुस्तकों के कोई-कोई लेखक, अनुवादक और प्रकाशक पुस्तक समर्पण के सम्बन्ध में एक अनुचित और अन्यायपूर्ण काम कर रहे हैं। रद्दी-से-रद्दी पुस्तक

का समर्पण किसी के नाम पर कर देना वे बहुत ज़रूरी समझने लगे हैं। उनके काम का यह पहला अनौचित्य है। जिस पुस्तक का कुछ भी महत्त्व नहीं, जिससे कुछ भी लाभ की सम्भावना नहीं उसके समर्पण की क्या आवश्यकता? भेंट में किसी को वही चीज़ दी जानी चाहिए जो अच्छी हो, बुरी चीज़ किसी को देना उसका अपमान करना है। फिर औरों की रची हुई दो-दो चार-चार सौ वर्ष की पुरानी पुस्तकों का समर्पण करने का अधिकार प्रकाशक को कहाँ प्राप्त हुआ। दूसरे की चीज़ का समर्पण करने वाले ये कौन हैं? उनके समर्पण-कार्य का दूसरा अनौचित्य है कि जिनको वे पुस्तक-समर्पण कर रहे हैं, उनसे ऐसा करने की अनुमति लेने तक को वे शिष्टता नहीं दिखाते। पुस्तक छापी और समर्पण-पत्र लगाकर भेज दी। बहुत हुआ तो एक चिट्ठी लिख दी कि बिना पूछे ही मैंने समर्पण कर दिया है! क्षमा कीजिए!! तीसरा अनौचित्य यह है कि कोई शिष्ट शिरोमणि जिसे पुस्तक समर्पण करते हैं उसीको उसकी समालोचना करने की आज्ञा भी दे देते हैं!!! इस अशिष्टता और अनाचार का कुछ ठिकाना है!! अब तक इन पंक्तियों के तुच्छ लेखक के नाम पर इसी तरह की कई पुस्तकों का समर्पण हो चुका है। प्रार्थना है कि अब मुझ पर और अन्याय न किया जाय। वह अपने को समर्पण का पात्र ही नहीं समझता।"

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदीजी के लेखन में आधुनिक निबन्ध के लिए आवश्यक तत्त्व बिखरे पड़े थे, परन्तु उन्हें जैसे समन्वित नहीं किया गया था। यह संश्लेषण वस्तुतः द्विवेदी-युग के पत्रकारों के बूते की बात नहीं थी। भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों की मस्ती कम हो चुकी थी और नये लेखनादर्श किसी तरह रूपापन्न नहीं हो पाये थे। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि संक्रमणावस्था में निबन्ध अनेक दिशाएँ खोजता।

एक दिशा थी व्याख्यान की। व्यास-पीठ या मञ्च पर से दिये उपदेशों की। श्रोता के साथ सम्वाद की। इस दिशा से स्वामी रामतीर्थ, अध्यापक पूर्णसिंह आदि चले और इस नीत्युपदेशक विचार-धारा का प्रभाव अवश्य पड़ा रामचन्द्र शुक्ल-जैसे मनोवृत्तियों के विश्लेषणपरक लेख लिखने वालों पर। शुक्लजी के 'भय' या 'लोभ' या ऐसे मनोविकारों पर लिखने के पीछे एक प्रकार की नैतिक सोद्देश्यता, लेखक सर्वसाधारण पाठक से बढ़कर, भिन्न, ऊँचा है यह मान्यता भी अध्याहृत थी। यह अध्यापक की-सी तटस्थता और उपदेश-परायणता निबन्ध के लिए मारक सिद्ध होती है। अपने 'हिन्दी-निबन्ध' शीर्षक निबन्ध में श्री विजयशंकर मल्ल का कथन है कि "द्विवेदी जी ने थोड़े-से ऐसे

निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें उनकी शैली की रोचकता, स्वच्छन्द मनोदशा और थोड़ी आत्मीयता के दर्शन होते हैं। 'दमयन्ती का आत्मनिवेदन', 'नल का दुस्तर दूत-कार्य', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्-भक्ति' आदि कुछ निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इन निबन्धों में अर्जित ज्ञान ही है पर उसे अपना बनाकर आत्मीय ढंग से प्रकट करने और अवसर एक रमणीय वातावरण उपस्थित करने में लेखक को पूरी सफलता मिली है।"[1] परन्तु इस कथन से उसी पुस्तक के विद्वान् भूमिका-लेखक डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय असहमत जान पड़ते हैं। वे कहते हैं कि भारतेन्दु-युग से निबन्ध का सूत्रपात हुआ, परन्तु बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि के "उपादान, विषय-विस्तार और शैली सीमित रही। द्विवेदी-युग निबन्ध-रचना के परिमार्जन और विकास का युग है। स्वयं द्विवेदीजी ने विभिन्न गद्य-शैलियों को जन्म दिया, लेकिन एकाध रचना को छोड़कर उनकी शेष गद्य-रचनाएँ निबन्ध की कोटि में नहीं आतीं।"[2] वार्ष्णेय जी की भाँति द्विवेदी जी के लेखन को निबन्ध कहा जाय या नहीं यह शंका तो मन में नहीं उठती, परन्तु जो व्यक्ति इन मापदण्डों से चलेगा कि निबन्ध एक Reverie मात्र है, उसे "रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध भी हिन्दी निबन्ध-साहित्य की अमूल्य निधि"[3] कैसे लगते हैं यह कहना कठिन है! परन्तु विद्वज्जनों का कार्य ही दो परस्पर-विरोधी बातें एक साँस में कह डालना होता है, उनके शिष्यगण फिर भाष्य करके उसमें संगति बैठाते हैं। क्योंकि उसी पुस्तक में रामचन्द्र शुक्ल के उपर्युक्त निबन्धों पर मल्लजी का पृष्ठ ४२ पर कथन है कि "उनके मनोविकार-सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना वाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की असली विशेषता यही है कि जो व्यक्ति प्रधान नहीं, विषय-प्रधान निबन्ध की विशेषता है।"[4] विषय-प्रधान होने से द्विवेदीजी के निबन्ध घटिया हो जाते हैं, वे ही शुक्ल जी के हाथों में आकर हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की अमूल्य निधि हो जाते हैं। दोनों ही निबन्ध की 'रेवेरी' वाली परिभाषा में कहीं नहीं आते।

इस सारे मत-मतान्तर की उलझन का मूल कारण यह है कि हिन्दी-निबन्धकार के मानस और दृष्टिकोण में अन्तर होता गया है, उसकी ओर हमारे

१. 'हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ', पृष्ठ ५०।
२. वही, पृष्ठ ११।
३. वही।
४. वही।

आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया है। १९०० से १९२० या १९२० से १९४० के बीच में निबन्धकार समय की गति से या काल-पुरुष (Time Spirit) से अछूते नहीं रहे हैं। द्विवेदीजी के समय की समस्याएँ हजारीप्रसाद जी के समय की नहीं हैं। उन समस्याओं के साथ-साथ विचारों का दृष्टिकोण भी विशद, व्यापक, सर्वांगीण और अधिक उदार—सहिष्णु बनता गया है। परन्तु इस सारे समाज-मनोविश्लेषण की गहराई में जाने से हमारे बहुतोषिणी आलोचना लिखने वाले बचते रहते हैं।

द्विवेदीजी के बाद जो बड़ा मोड़ हिन्दी-निबन्धों में आया और जिससे निबन्ध सरलतर, व्यक्तिपरक, संस्मरण-रेखा-चित्रात्मक होते गए, वह गांधीवाद का प्रभाव था। काका कालेलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार, महादेवी वर्मा आदि के निबन्ध इसी प्रकार के हैं। उनमें संथाली मुरली है, नदियों का दर्शन और प्रवास-वर्णन है, आकाश-दर्शन है, जेलकी बातें हैं, आलू की खेती का आत्म-व्यंग्य है, कस्मै देवाय की चिन्ता है। योजनाओं के अम्बार हैं, रस्किन-इमर्सन-थोरो के उद्धरण हैं, जीवन के मौलिक नैतिक प्रश्नों का ऊहापोह है। मनुष्य-शक्ति या अश्व-शक्ति का विचार है, बाल-मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण है (राम-कथा), अबुद्धिवाद का समर्थन है, जीवन में बाह्यत: विपरीत जान पड़ने वाली बातों का प्रतिपादन है (बाज़ार-दर्शन) और देश-विदेश की सीमाएँ लाँघकर किसी फेरी वाले चीनी व्यक्ति के प्रति मात्र मानवी सहानुभूति है। यहाँ निबन्ध के लिए विषयपरकता प्रधान नहीं रही है। ए०जी० गार्डनर जैसे कहते थे कि कोई भी खूँटी चल सकती है, मुख्य बात उस पर टोप लटकाने की है। लेखक अपनी ही बात कहता है चाहे वह बाहुबली की यात्रा का वर्णन करता हो, चाहे नेहरूजी की कहानी की चर्चा करता हो, चाहे वह कवि-वेश पर व्यंग्य करता हो, सर्वत्र वह आपुनपौ लिये हुए है। वह उससे छूटा नहीं है। यह व्यक्तिपरकता हमारे समाज-जीवन में बहुत तीव्रता से बढ़ती चली गई। इसका एक और स्वच्छन्द उच्छृंखल मत-प्रदर्शन वाला रूप पद्मसिंह शर्मा की अतिभावुकतापूर्ण बिहारी-टीका में या 'उग्र', नरोत्तम नागर, चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्य 'अन्तस्तल' या ऐसे ही भाव-प्रधान गद्य में मिलता है—(माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ० रघुवीरसिंह और वियोगी हरि के गद्य काव्यों में शैली का साहित्यिक रूप निखार पर है) दूसरी ओर वह व्यक्तिनिष्ठता समष्टि का अंग बनकर विचार-प्रधान हो गई है जैसे हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय आदि के निबन्धों में : यहाँ निबन्ध संस्मरण, रिपोर्ताज, डायरी या पत्र-

लेखन के बहुत निकट आ गया है। परन्तु दोनों ही प्रकारों में जो अति गम्भीरता है वह निबन्ध की हलकी-फुलकी प्रकृति के लिए मारक है। वस्तुतः निबन्ध में व्यंग्य-विनोद का पुट अत्यन्त आवश्यक है। सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार और हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में यह नर्म-परिहास बहुत शिष्ट और सूक्ष्म रूप में अपनी छटा दिखलाता है। जैसे बातचीत में थोड़ा-बहुत हँसी-मज़ाक चला ही करता है। भारतीयों की चिरतरुण सांस्कृतिकता ने सदा जीवन-पूजा की है और जीवन की गम्भीर-करुण घटनाओं को भी तटस्थ दार्शनिकता से परिहासमयी वृत्ति से देखा गया है। एक निबन्धकार के लिए यह वृत्ति आवश्यक है। अन्यथा वह एकदम उपदेष्टा या 'बोर' बन जायगा। उदाहरण के तौर पर आधुनिक निबन्धकार की वृत्ति की छटा हम 'प्रसाद' जी के इन उद्गारों में पाते हैं जो उन्होंने प्रेमचन्द की मृत्यु के समय प्रकट किये थे। नन्ददुलारेजी ने उन्हें यों ग्रथित किया है :

> "गत वर्ष जब प्रेमचन्दजी हिन्दी-संसार को सूना करके जा रहे थे, तब उनके साथ श्मशान तक प्रसाद जी भी गये थे और मैं भी गया था। अर्थी काशी की गलियों से होकर जा रही थी, इतने में किसी ने वहीं की बोली में कहा—"मालूम होता है कोई मास्टर मर गया है।" बात यह थी कि अर्थी के साथ थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग थे, कोई भीड़ न थी और 'राम नाम सत्य है' की आवाज भी वैसी नहीं हो रही थी। ऐसी अवस्था में कोई मामूली मास्टर ही मर सकता था, और कौन मरता!"

स्पष्ट ही मुझे वह बात अच्छी नहीं लगी और मैं कुछ गम्भीर-सा बन चला। अर्थी चली जा रही थी और हम लोग उसके पीछे जा रहे थे। इतने में देखता क्या हूँ कि प्रसादजी ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया है और कान से लगकर धीरे-से किन्तु अपनी सुपरिचित मुस्कान के साथ कह रहे हैं। "बाजपेईजी, ई का कहि रहा है, कुछ समझ में आवता है?"

"यहै बनारसी रंग आय।"

—नन्ददुलारे बाजपेयी (जयशंकर 'प्रसाद')

हिन्दी के निबन्धकार में तटस्थता और तद्रूपता के बीच में जितना अधिक सामंजस्य और सन्तुलन बढ़ता जायगा, उसके निबन्ध भी उत्तरोत्तर साहित्यिक दृष्टि से अधिक अर्थपूर्ण होते जायँगे। हिन्दी में निबन्ध के विकास का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

३

हिन्दी के निबन्धकार और शैलीकार

भारतेन्दु-शतसांवत्सरिकी के समय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए रातों-रात मैंने और मेरे मित्र विद्यानिवास मिश्र ने मिलकर इलाहाबाद में एक पुस्तिका 'भारतेन्दु-मुकुर' लिखी, जो प्रचार के लिए मुफ्त बाँटी गई। उसमें भारतेन्दु-मण्डल के दिये गए परिचय स्वयं पूर्ण होने से, उसके अंश यहाँ दे रहा हूँ—

१. प्रतापनारायण मिश्र

उन्नाव से थोड़ी दूर बैजे गाँव के रहने वाले संकटाप्रसाद मिश्र के पुत्र प्रतापनारायण का जन्म आश्विन कृष्ण नवमी, संवत् १९१३ में हुआ। पिता चाहते थे कि पुत्र ज्योतिषाचार्य बने, परन्तु पुत्र की रुचि उस ओर नहीं थी। प्रतापनारायण दूसरों का भविष्य देखने की अपेक्षा हिन्दी-गद्य का भविष्य स्वयं निर्माण करने वाले थे।

शिक्षा का यह हाल था कि कई स्कूलों में अंग्रेज़ी और हिन्दी पढ़ी, परन्तु स्वतन्त्र प्रकृति के कारण कहीं जमकर पढ़ न सके। सं० १९३२ के लगभग स्कूल से अपना पिण्ड छुड़ाया। कुछ दिनों के बाद पिता की मृत्यु के साथ-साथ प्रतापनारायण की शिक्षा का भी अन्त हो गया। 'कवि-वचन-सुधा' से उनके हृदय में साहित्य के प्रति प्रेम उमगा। कानपुर में ललिताप्रसाद शुक्ल 'ललित' का तब बड़ा नाम था। उन्हींसे काव्य-शास्त्र के नियम पढ़े। 'लावनियों' के अखाड़ों के कारण उनकी साहित्यिक रुचि को बहुत प्रोत्साहन मिला। १५ मार्च १८८३ ईस्वी को उन्होंने 'ब्राह्मण' नामक एक बारह पृष्ठ का मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया। सन् १८८७ में वह कुछ दिनों के लिए बन्द हो गया। 'ब्राह्मण' के लेख प्रायः हास्यरसमय और शिक्षाप्रद होते थे। सन् १८८९में वे कालाकाँकर गये और 'हिन्दी-हिन्दोस्थान' के सहकारी-

सम्पादक हुए। परन्तु अपने स्वतन्त्र स्वभाव के कारण वहाँ टिक नहीं सके। स्वार्थी-पुराणपन्थी और देश-हित-विरोधियों पर अपनी कविताओं में उन्होंने बहुत व्यंग किया है। उन्होंने २० पुस्तकें लिखीं और १२ का अनुवाद किया। इनका देहान्त आषाढ़ शुक्ल ४, संवत् १९५१ को हुआ।

उनके निबन्धों के शीर्षकों से ही पता चलता है कि वे साधारण-से-साधारण विषय में भी कैसी जान डाल देते थे—'घूरे के लत्ता बिनैं, कनातन क डौल बाँधै हो', 'समझदारी की मौत है' आदि। उनके व्यंग में पण्डित बालकृष्ण भट्ट की तरह चिड़चिड़ापन नहीं था, विनोदपूर्ण वक्रता की प्रधानता थी। गम्भीर-से-गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी परिहास की पुट वे नहीं भूलते थे; और इसीलिए उनके निबन्धों का व्यंग मधुर और निगूढ़ है। विषयों का चुनाव साधारण दैनन्दिन जीवन की वस्तुओं से करते, जैसे 'बात', 'भूत', 'भौं', 'दाँत' इत्यादि।

अपनी भाषा-शैली में हिन्दी के मुहावरों का वे विशेष ख़याल रखते थे। कहीं-कहीं तो इन मुहावरों की अति भी कर देते थे। जैसे-"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात-की-बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे-तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। 'बातहि हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव'।"

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उनकी भाषा के जो-कुछ दोष गिनाये हैं उनमें प्रमुख हैं भाषा-शैली का अव्यवस्थित होना, पण्डिताऊपन और पूरबीपन का झलकना, व्याकरण-सम्बन्धी भूलें और असुविधाजनक प्रयोग आदि। फिर भी इनकी रचना की रोचकता अमान्य नहीं की जा सकती। उनमें एक विलक्षण आत्मीयता थी और जन-साधारण तक पहुँचने की एक अननुकरणीय शक्ति। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वे निबन्ध कला में भारतेन्दु को ही आदर्श मानते थे, पर उनकी शैली में भारतेन्दु की शैली से बहुत-कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है और वह विभिन्नता है विनोद की ओर उनका विशेष झुकाव।

उनकी शैली का उदाहरण दिया जाता है—

"घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी; और संखिया-सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमतें

सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुँदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।"

२. *बालकृष्ण भट्ट*

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में संवत् १९०१ में और मृत्यु संवत् १९७१ में हुई। वे प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक थे। उन्होंने संवत् १९३३ में अपना 'हिन्दी-प्रदीप' पत्र प्रकाशित किया, जिसमें तीस-बत्तीस वर्ष तक वे सब तरह के निबन्ध लिखते रहे। उनके २९ निबन्धों का एक संग्रह 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित हुआ है। परन्तु कई लेख 'प्रदीप' में बिखरे पड़े हैं, जिनका संग्रहाकार प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। संवत् १९४३ में भट्टजी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की सच्ची समालोचना भी की और पत्रों में उस पुस्तक की प्रशंसा-ही-प्रशंसा देखकर की थी।

रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भट्टजी के मुहावरा-प्रेम का एक उदाहरण दिया है—"एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा, 'भैया! आँख में क्या हुआ है?' उत्तर मिला, 'आँख आई है।' वे चट बोल उठे, 'भैया! यह आँख बड़ी बला है। इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है'।" पं० प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट की शैलियों की तुलना करने से कुछ ऐसी रूप-रेखा बनेगी—

प्रतापनारायण मिश्र	*बालकृष्ण भट्ट*
१. भाषा का रूप अस्थिर, परन्तु शैली सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाने की विशेष चेष्टा के कारण सामान्यता की ओर झुकी हुई है। साहित्यिक छटा कम।	१. उनके पूर्व की तीन भाषा-शैलियों—राजा शिवप्रसाद की उर्दू-प्रधान, लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-प्रधान और भारतेन्दु की मध्यम पद्धति में से किसी एक पद्धति का सचेष्ट अनुकरण नहीं किया। भारतेन्दु की भाँति साहित्यिक छटा अधिक, नागर-शैली।

प्रतापनारायण मिश्र	बालकृष्ण भट्ट
२. मुहावरों और कहावतों का चमत्कार केवल चमत्कार के लिए कम। अधिकतर वह बात-की-बात में आ जाते थे।	२. मुहावरों और कहावतों का चमत्कार विशेष रूप में दिखाते थे।
३. पद्यात्मकता अथवा कल्पना के अनिर्बन्ध कल्पना-विलास की ओर कम झुकाव। उनकी प्रतिभा सामाजिकता लिये हुए अधिक थी। उनकी मनोभूमि ही समाज-शास्त्रीय अधिक थी, कलात्मक कम।	३. गद्य-काव्य का प्रवर्त्तन किया। यथा—'चन्द्रोदय'।
४. हास्य की छटा संयमित रूप में मिलती है। उसमें तिक्तता नहीं है।	४. विनोद की अपेक्षा तीखे, चुटीले व्यंग की ओर अधिक झुकाव। कुछ चिड़चिड़ाहट भी थी।
५. अंग्रेजी या उर्दू के शब्द कम हैं।	५. अंग्रेज़ी के शब्द ब्रैकेट में दे देते थे। कहीं-कहीं फ़ारसी-अरबी के बड़े फ़िकरे भी अपनी मौज में आकर रखा करते थे।
६. वाक्य-रचना सदोष है। कहीं-कहीं पूरबीपन के साथ-साथ बैसवारी का भी स्पर्श है।	६. वाक्य-रचना चुस्त और भाषा पूरबीपन लिये हुए।
७. विराम-चिह्नों के प्रयोग में असावधान।	७. विराम-चिह्नों का उपयोग विशेष करते थे।

उनकी भाषा-शैली का एक उदाहरण देखिए—

"स्कूल में मास्टर साहब साक्षात् यमराज के अवतार, घर में बाप-माँ की घुड़की और झिड़की का खटका। बरसवें दिन परीक्षा और दरजा चढ़ाये जाने का खटका। कुछ याद नहीं है, बिना इम्तहान दिये बनता नहीं। फेल हुए तो अपने साथियों में आँख नीची होती है, साल-भर तक किताब के साथ लिपटे रहे, हिस्टरी याद है, तो मैथमैटिक्स का खटका है। इशारेबाजी और अपने पास वाले से पूछ-ताछ लिखते तो वहाँ इम्तहान के कमरे में गार्ड लोगों की सख्त-मिजाजी का खटका है। खैर किसी तरह इम्तहान दे-दिवाय फारिग हुए तो अब दो-एक नम्बर कम रहने का खटका है।"

३. बदरीनारायण चौधरी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि—

"हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है, वह है सजीवता या जिंदादिली।" शिक्षित समाज में संचरित भावों को भारतेन्दु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया। उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक सम्बन्ध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बनाया।''''प्राचीन और नवीन के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी वस्तु।"

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु-मण्डल के सबसे ज्येष्ठ साहित्यिक थे। इनका जन्म संवत् १९१२ में भाद्रपद कृष्ण षष्ठी को हुआ। वे भारद्वाज गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनका वंश खोटिया उपाध्याय कहलाता है। उनके दादा पण्डित शीतलाप्रसाद मिर्जापुर के प्रतिष्ठित रईस थे। उनके पुत्र गुरुचरणलाल थे, जिनके ज्येष्ठ पुत्र बदरीनारायण थे।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा माता ने दी। अंग्रेजी और फारसी घर में ही पढ़ी। गोंडा में शिक्षा के लिए गये, परन्तु वहाँ सर प्रतापनारायणसिंह और त्रिलोकीनाथसिंह के संग घुड़सवारी, शिकार और निशाना लगाना सीखा। १९२४ में फैजाबाद के खाँ स्कूल में पुनः पढ़ने बैठे। संवत् १९२९ में मिर्जापुर लौटे। पिता ने स्कूल में मन न लगने के कारण घर पर ही संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे संगीत की ओर भी ध्यान गया और कुछ समय में संगीत में निपुणता प्राप्त कर ली। अनेक भाषाएँ सीखीं, जिनका उदाहरण 'भारत-सौभाग्य' में मिलता है।

संवत् १९२८ में कलकत्ता से लौटने पर बीमार हो गए और बरसों पड़े रहे। इस समय ब्रजभाषा के तथा अन्य ग्रन्थों को पढ़ने और समझने का अवसर मिला। पत्र-पत्रिकाओं की ओर भी रुझान हुआ। संवत् ३० और ३१ में 'सद्धर्म सभा' और 'रसिक समाज' स्थापित किये। संवत् १९३२ से कविता और लेख लिखना शुरू किया। 'कवि-वचन-सुधा' में इनकी रचनाएँ छपने लगीं; और यों भारतेन्दु जी के विशेष सम्पर्क में वे आए। संवत् १९३८ में 'आनन्द-कादम्बिनी' की प्रथम माला प्रकाशित हुई और संवत् १९४१ से साप्ताहिक 'नागरी-नीरद' समाचार-पत्र। पहले पत्र में आपके ही लेख छपते थे, दूसरों के नहीं के बराबर; डॉ० जानसन के पत्र 'आइड्लर' की भाँति या चिपलूणकर की 'निबन्धमाला' की भाँति। इस पर भारतेन्दु ने उनसे कहा भी

कि यह पुस्तक नहीं है जो आपके ही लेख इसमें रहें। कविता 'प्रेमघन' उपनाम से लिखते थे। उनकी साहित्य-सेवा के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तृतीय वर्ष के सन् १९१२ के कलकत्ता-अधिवेशन का उन्हें सभापति बनाया गया। उस अवसर पर उन्होंने बड़ी गवेषणापूर्ण वक्तृता दी।

'प्रेमघन' जी की लेखन-शैली सहज और स्वाभाविक थी। कभी संस्कृत-बहुल और कभी उर्दू-मिश्रित ढंग से वे लिखते। जो-कुछ लिखते, उसे कई बार दुहराकर परिमार्जित करते थे। साधारण रीति से कोई बात कहना पसन्द नहीं करते थे। अनुप्रासयुक्त, आलंकारिक एवं गुम्फित शैली में लम्बे-लम्बे वाक्य लिखने का आपको शौक था। आचार्य शुक्ल उनकी शैली के विषय में लिखते हैं कि "प्रेमघन की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था।"

उनकी सूक्ष्म रसमयी निरीक्षण-शक्ति के परिचायक हैं उनके दो निबन्ध 'बुढ़वा मंगल' और 'कजली'! 'बुढ़वा मंगल' काशी का एक कलात्मक उत्सव था, जो अब नहीं-सा होता है। इन निबन्धों में प्रेमघन ने अपने विषय का सजीव चित्र उपस्थित किया है। कजली की उत्पत्ति, विकास-प्रकार, स्थान-भेद, राग आदि का सांगोपांग अध्ययन करके उन्होंने लिखा है। उनके लेखों में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही देशज और ठेठ शब्दों का प्रयोग भी अपने समकालीन लेखकों में सम्भवतः सर्वाधिक किया है। पोशाक-सम्बन्धी ही ऐसे न जाने कितने शब्द मिलेंगे जिनका आजकल अर्थ जानने में कठिनाई होगी; किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं।

उनके व्यक्तित्व के विषय में आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि " 'प्रेमघन' जी की हर एक बात से रईसी टपकती थी। बातचीत का ढंग बहुत ही निराला और अनूठा था। कभी-कभी बहुत ही सुन्दर वक्रतापूर्ण वाक्य उनके मुँह से निकलते थे। लेखन-कला के उनके सिद्धान्त के कारण उनके लेखों में वह विशेषता नहीं पाई जाती। वे भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्रों में से थे और 'वेश भी उन्हीं का-सा रखते थे!" कहा जाता है कि 'प्रेमघन' जी ने भारतेन्दु जी के साथ कुछ नाटकों में अभिनय भी किया था।

उनकी शैली का एक उत्तम उदाहरण 'कादंबिनी' पत्रिका के सं० १९४२ की संख्या से यह 'स्थानिक संवाद' नामक समाचार देखिए—

"दिव्यदेवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल-

पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गई। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल-पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

समालोचना भी करते तो बड़ी कठोर होती थी। लाला श्री निवास-दास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की जो २१ पृष्ठों में समालोचना लिखी, उसमें किसी को नहीं छोड़ा।

४. माधवप्रसाद मिश्र

आपका जन्म पंजाब के हिसार जिले में भिवानी के पास कूँगड़ ग्राम में भाद्र शुक्ल १३ संवत् १९२८ को हुआ। आपकी मृत्यु, प्लेग के कारण चैत्र कृष्ण ४, संवत् १९६४ को हुई। ये बड़े शक्तिशाली लेखनी के धनी, कट्टर पुराण-पन्थ-समर्थक और देश-भक्त व्यक्ति थे। शुक्लजी ने लिखा है कि "गौड़ होने के कारण मारवाड़ियों से इनका विशेष लगाव था और ये उनके समाज का सुधार हृदय से चाहते थे।" 'वैश्योपकारक' और बाद में 'सुदर्शन' नामक दो पत्रों का सम्पादन भी आपने किया। इनके लिखने में आवेश विशेष रूप से रहता था। 'समालोचक'-सम्पादक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी इनकी रचनाएँ छापने के लालच से 'सदा एक-न-एक टण्टा उनसे छेड़े ही रखा करते थे।' इन्होंने द्विवेदीजी की भी एक लेख में खासी खबर ली। मालवीयजी ने जब छात्रों को राजनीतिक आन्दोलन से दूर रहने की सलाह दी तब इन्होंने एक अत्यन्त क्षोभपूर्ण खुली चिट्ठी उनके नाम छापी। आपने हिन्दी में पुस्तकाकार जीवनियाँ लिखने का प्रारम्भ किया। अधिकतर इनके लेख दैनन्दिन विषयों को लेकर ही हैं। विशेषतः विवादात्मक, खण्डन-मण्डनात्मक लेख उनके अधिक हैं। उनकी शैली का एक उदाहरण देखिए—

"किसी का धन खो जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया।' इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किन्तु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है! अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? क्या सचमुच मिट्टी इतनी निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम निकृष्ट नहीं हैं। भगवति वसुन्धरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है!"

५. बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त पंजाब के रोहतक जिले के रहने वाले थे। जन्म

सं० १६२२ में और मृत्यु सं० १६६४ में हुई। पहले ये उर्दू अखबार चलाया करते थे। बाद में कलकत्ता के 'बंगवासी' के सम्पादक हो गए। उसे छोड़कर 'भारत मित्र' में गए। इन्होंने 'आत्माराम' छद्म-नाम से महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'भाषा और व्याकरण' लेख का प्रतिवाद प्रकाशित किया और 'कल्लू अल्ह-इत' नाम से एक विनोदपूर्ण आल्हा भी लिखा। 'गुप्त-निबन्धावली' का परिवर्द्धित संस्करण झाबरमल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सम्पादित करके छापा है। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' नाम से लिखे उनके सामयिक निबन्ध बहुत प्रसिद्ध हैं। शिवशम्भु की शैली का आनन्द उनके इस अवतरण से पाया जा सकता है—

"शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बदाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर घटा बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़-धड़धड़ होने लगा, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई, बमभोला कह शर्माजी ने एक लोटा-भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिण्टो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिण्टो के सिर या छाते पर।"

बालमुकुन्द गुप्त की भाषा-शैली के बारे में शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक रामचन्द्र शुक्ल तक ने कहा है कि—"गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी।" परन्तु रामचन्द्र शुक्ल के ही शिष्य डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उनके बारे में कहा है कि "लेखों में वे पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति भाषा का खिचड़ी-रूप ही प्रयोग में लाते थे।" यानी गुप्तजी के लेखन-काल के समय तक हिन्दी-निबन्ध की भाषा-शैली के स्थिरीकरण की समस्या बराबर बनी हुई थी। उर्दू से हिन्दी को मँजाव मिलता था। मगर खिचड़ी भाषा का डर भी था। अंग्रेज़ी के विरुद्ध कुछ पण्डित-जन थे, तो कुछ उसकी खूबियों को अपनाना भी चाहते थे। यह भाषा-विषयक द्वन्द्व बहुत दिनों तक बराबर

चलता था। द्विवेदी जी के भाषा को 'स्टैण्डर्ड' बनाने के सब प्रयत्न और उद्योग केवल पत्रकारिता तक सीमित रहे। सृजनशील लेखक 'एकै लीकै ना चलै' का अपना 'नियतिकृत नियमरहित' मार्ग बराबर अपनाते ही रहे। उसे कौन रोकने वाला था! शिव की 'भंग की तरंग' उतनी उच्छृङ्खल नहीं थी जैसी ऊपर से जान पड़ती है। उस विक्षिप्तता में भी एक नियमितता थी।

६. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जयपुर के एक विख्यात पण्डित-घराने में २५ आषाढ़ संवत् १९४० में जन्मे और बहुत छोटी आयु में उनका देहान्त हुआ। यानी केवल सैंतीस वर्ष वे जीवित रहे। वे अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापक रहे। बाद में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के ओरिएण्टल कॉलेज के प्रिंसिपल बने। आपने 'समालोचक' नामक एक पत्र निकाला। उसके लेखों से से झलकता है कि जैसे वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, अंग्रेज़ी के भी अच्छे ज्ञाता थे और विनोदप्रियता उनके स्वभाव में खूब थी। उन्होंने थोड़ी-सी ही कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु वे अमर हो गई हैं। इनका बहु-विषय-ज्ञान और इनकी विदग्धता की छाप इनके लेखन पर भी स्पष्ट है।

इनकी शैली का एक उदाहरण देखिए—

"प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल, इति-कर्तव्यता-शून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है इसका प्रधान उद्देश्य मालवीय जी को अपदस्थ करना है और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्तप्रान्त में बहुत-से लोगों को तिलक बनने की लालसा जग पड़ी है। पर चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित-से-घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोडशी कला को भी नहीं पा सकते।"

और एक उदाहरण से उनका अध्ययन और व्यापक दृष्टि भी परिलक्षित होती है—

"पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरिया वालों से। उनके यहाँ 'असुर' शब्द बड़ी शान का था। 'असुर' माने प्राण वाला, जबरदस्त। हमारे इन्द्र की भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। × × पारस के पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि 'क्षत्रप', 'क्षेत्रपावन' या 'महाक्षत्रप' हमारे यहाँ रख गए और गुलिस्ताँ,

विस्तास्थ के वजन के कृशाश्व श्यावाश्व बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे दिए। साथ ही मेवप, वृष, मिथुन भी यहाँ पहुँच गए। पुराने ग्रन्थकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि ही काम में लाते थे।··· हूण वंक्षु (अक्सस) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजे मुड़े हुए हूण की ठुड्ढी की-सी नारंगी।"

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का यह सब साहित्य पुस्तकाकार छपना शेष है। योगेश्वर गुलेरी (उनके पुत्र) ने इस सम्बन्ध में अपीलें भी निकाली थीं। पर हिन्दी-जगत् में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के परिवार की भाँति गुलेरी-परिवार भी कष्ट में है और पूछता कौन है? वैसे 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाउँ' नामक इनके प्रसिद्ध निबन्ध साहित्य की स्थायी निधि हैं।

७. अध्यापक पूर्णसिंह

वैसे तो 'सरस्वती' के पुराने अंकों में इनके तीन-चार ही निबन्ध प्रकाशित हुए थे, जैसे 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' आदि; फिर भी उनकी भावात्मक शैली, लाक्षणिकता, कल्पना की उड़ान आदि ने उनका स्थान साहित्य के इतिहास में स्थायी रूप से सुरक्षित बना दिया है। अध्यापक पूर्णसिंह स्वामी रामतीर्थ के शिष्य थे और स्वामी राम विवेकानन्द के शिष्य थे, जो स्वयं रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। स्वामी राम की शैली में एक भाषण की-सी सरलता थी।

यथा—"लगभग तीन मील तक राम दौड़ता चला गया। कभी-कभी टाँगें बर्फ में धँस जाती थीं और निकलती थीं बड़ी कठिनाई से। अब एक हिमानी ढेर पर लाल कम्बल बिछा दिया और बैठ गया। राम एकदम अकेला, संसार के गुल-गपाड़े और झंझटों से एकदम ऊपर—समाज की तृष्णा और ज्वाला से एकदम परे। नीरवता की चरम सीमा, शान्ति का साम्राज्य! शक्ति का अतुल विस्तार! शब्द का नामो-निशान नहीं, है केवल आनन्द घनघोर! धन्य, धन्य, उस गम्भीर एकान्त को सहस्र बार धन्य![1]

स्वामी रामतीर्थ में आवेश था, काव्य था, दृष्टान्त का प्राचुर्य था। ये सब गुण स्वामी रामतीर्थ के जीवनीकार अध्यापक पूर्णसिंह में भी पाये जाते हैं। पूर्णसिंह ने अंग्रेजी में साहित्य रचा है। स्वामी रामतीर्थ की जीवनी लिखी है। एक प्रकार का रस्किन का सा आदर्शवाद पूर्णसिंह की रचनाओं के मूल में मिलता है। उसी तरह एकान्तिकता से वे बातें करते हैं। विषय समाजशास्त्रीय अधिक

१. स्वामी रामतीर्थ ('हिमालय-यात्रा-वर्णन' से)

है, परन्तु शैली गद्यकाव्यात्मक है। इनके निबन्धों का भी कोई संग्रह नहीं। 'मजदूरी और प्रेम' से यह उदाहरण उनकी शैली को स्पष्ट करेगा—

"जब तक जीवन के आरम्भ में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधू-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

८. विजयानन्द दुबे

पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने वैसे तो 'मा' उपन्यास और अपनी कहानियों में प्रेमचन्द-शैली का ही अनुकरण किया था, परन्तु अपनी विशेषता उन्होंने 'दुबे जी की चिट्ठी' नाम से 'चाँद' पत्रिका में नियमित रूप से लिखे पत्रों में दिखाई। 'शिवशम्भु शर्मा' के बाद 'विजयानन्द दुबे' नामक यह दूसरा साहित्यिक पात्र उतना ही प्रसिद्ध हो गया। यद्यपि हास्य के आलम्बन वही पुराने थानी भंग भवानी, जातीयता और संकीर्णता, फैशनपरस्ती, झूठा बाबूपन आदि थे, फिर भी अपनी शैली की विशेषता के कारण 'दुबे जी' यानी विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का नाम भुलाया नहीं जा सकता। कभी-कभी तो विषय कुछ नहीं होता था, साधारण-सी घटना पर चुटकी लेते-लेते पूरी लम्बी चिट्ठी लिख डालते थे। आपकी रचनाओं को वैसे तो विशुद्ध निबन्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता। परन्तु पत्रकारिता के माध्यम से निबन्ध की सेवा करने का श्रेय द्विवेदी जी को जैसे है, हिन्दी में नवीन प्रकार की व्यंग-विनोद-उद्भावना का श्रेय दुबेजी को है। यद्यपि कालानुक्रम से कौशिक-जी बाद में आते हैं, फिर भी हास्यप्रधान निबन्धों की पुरानी धारा कौशिकजी ने आगे बढ़ाई। इस बात का उन्हें पूरा श्रेय है। दुबेजी का चिट्ठी 'चाँद' की फाइलों में खो जाने से उसका पूरा आनन्द पाठक नहीं उठा सकते हैं। इनमें से भी चुने हुए निबन्ध पुस्तकाकार अवश्य छपने चाहिएँ।

९. पद्मसिंह शर्मा

समालोचक-शिरोमणि पण्डित पद्मसिंह शर्मा का जन्म सम्वत् १९३३ में हुआ, मृत्यु सम्वत् १९८९ में। सन् १९०४ में आप गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक रहे। 'परोपकारी', 'अनाथ-रक्षक', 'भारतोदय' आदि पत्रों का सम्पादन भी किया। बाद में ज्ञानमण्डल, काशी में पुस्तकों के सम्पादक बने। वहीं

से 'बिहारी की सतसई' भूमिका भाग का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। सम्वत् १९८९ के मुज़फ्फरपुर वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आप सभापति हुए और सम्वत् १९८० में 'बिहारी की सतसई' पर मंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिला। इनके निबन्धों का संग्रह 'पद्म पराग' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

आपकी भाषा-शैली के विषय में प्रेमचन्द जी ने लिखा था—"आपमें नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्मदाता हैं—जिसमें चुलबुलापन है, शोखी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गाम्भीर्य भी। उनका पाण्डित्य उनके काव्य में है। वह उस पर शाह-सवार की भाँति सवार होते हैं।"

स्व० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने उनकी भाषा शैली के बारे में लिखा था—"शर्मा जी साहित्य के पूरे मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। आलोचना तो उनकी तीखी होती ही थी। ब्रजभाषा के पक्के प्रेमी और प्राचीन कवियों के पूरे भक्त थे। उनकी भाषा बड़ी चटपटी और चुलबुली होती थी। हँसी-मज़ाक की तो वे एक पुड़िया थे। उन्हें तुलनात्मक समालोचना का प्रवर्त्तक कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। शर्माजी फारसी के फाज़िल, उर्दू के उस्ताद और हिन्दी के हीरा ही नहीं, संस्कृत-साहित्य के भी सुधानिधि थे।"

उनके निबन्ध 'बिहारी की बहुज्ञता' से एक उदाहरण उनकी शैली का पर्याप्त होगा—

> 'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसे सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्द—प्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—'सनम! सुनते हैं तेरे भी कमर है'—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है तो यह शरीर—प्रपञ्च-स्तन-शैल, मुख-चन्द्र आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं। 'ब्रह्म' नहीं है तो यह विश्व-प्रपंच—हिमालयादि पर्वत, चन्द्रादि ग्रह-मण्डल किसमें स्थित हैं—कल्पित हैं। इसलिए कटि—ब्रह्म अवश्य है। इस तत्त्व को कटि ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरन्तर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी 'अलख लखी नहि जाइ' उसका साक्षात्कार नहीं होता, नज़र नहीं आती, दिखलाई नहीं देती—'कहाँ है किस तरफ को है, किधर है,' यही कहते रह जाते हैं।

'सूछम कटि परब्रह्म-सी अलख लखी नहिं जाय।'

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है। परब्रह्म उपमान; कटि उपमेय; लखी नहीं जाय, साधारण धर्म। 'सी, सा लौं' वाचक। [illegible] कैसी मनोहर पूर्णोपमा है!

१०. रामचन्द्र शुक्ल

सुप्रसिद्ध साहित्येतिहासकार और समालोचक रामचन्द्र शुक्ल ने मनोभावों पर निबन्ध लिखकर एक अपनी ही विशिष्ट व्यक्तित्वपूर्ण शैली हिन्दी में उपस्थित की।

"उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है, उनमें एक प्रकार का सौष्ठव-विशेष है। उनमें गम्भीर विवेचना, गवेषणात्मक चिन्तन एवं निर्भ्रान्त अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। निबन्ध में स्वच्छन्दता का विशेष अवकाश होने के कारण भाव-व्यंजना भी सरस हुई है। उनमें अपेक्षाकृत वाक्य कुछ बड़े हुए हैं; भाषा अधिक चलती और व्यावहारिक हुई है। इनकी निबन्ध-रचना इस बात का भी द्योतन करती है कि व्यावहारिक, सरस और बोधगम्य भाषा में किस प्रकार मानुषिक जीवन से सम्बद्ध विषयों पर विचार प्रकट किये जाते हैं।"[१]

रामचन्द्र शुक्ल की विशेषता थी व्यंग के छींटे। ऐसे व्यंगात्मक छींटों के लिए उन्होंने उर्दू का आश्रय लिया है। वैसे मुहावरासाज़ी के लिए मुहावरासाज़ी उन्होंने नहीं की। अलबत्ता आलोचनात्मक निबन्ध अधिक लिखते रहने के कारण एक प्रकार की सूक्ष्म तार्किकता उनमें विद्यमान है। उनके भावात्मक निबन्धों में यह वृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है। 'पै धन बिदेस चलि जात यही है ख्वारी।' वाली भारतेन्दु-उक्ति का समर्थन रामचन्द्र शुक्ल के इस उदाहरण से देखिये—

> "योरप के देश-के-देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूट-पाट का सिलसिला आक्रमण-काल तक ही—जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था—रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूमण्डल की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चूसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते कंकालों के कारागार हो रहे हैं।"

रामचन्द्र शुक्ल की निबन्ध-शैली पर मैंने अन्यत्र लिखा है कि—"शुक्लजी ने ये निबन्ध १९१९ में लिखे थे। १९३५ में इन्दौर में दिये भाषण में यानी सोलह वर्ष बाद भी उनकी हिन्दी-निबन्ध-कला के विषय में शिकायत ज्यों-की-त्यों बनी है।"

---

१. 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास, पृष्ठ ११५–११६।'

"ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और उनके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में कम देखने में आ रहे हैं।"[1]

शुक्लजी के निबन्धों की सबसे बड़ी कमज़ोरी उनका नैतिक प्रश्नों से अधिक उलझना है। 'समीक्षा की समीक्षा' में पृष्ठ ६ पर गुलाबराय और नन्ददुलारे वाजपेयी के अभिमत हमने अपने समर्थन में दिये हैं—

श्री गुलाबराय ने शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की विशेषताएँ बताते हुए प्रधान गुण बताया है—"वे मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अपने लक्ष्य में आचार-सम्बन्धी हैं। इनमें उस लोक-मंगल और लोक-संग्रह की भावना निहित है जिसके कारण आचार्य शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास को अपना आदर्श कवि माना।"

कहीं-कहीं रूढ़ नैतिकता के आग्रह की छाप शुक्लजी के सारे निबन्धों को प्रवचनात्मक बना देती है। इसी कारण वे तुलसी की भाँति अच्छाई-बुराई के द्वंद्व के फेर में सर्वत्र पड़े दिखाई देते हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं सदी' पुस्तक में रामचन्द्र शुक्ल पर तीन प्रदीर्घ निबन्ध—प्रायः ३२ पृष्ठ लिखकर उसके अन्त में जो बात कही है, वह बहुत सही है—"अन्त में हम फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज-शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्य-धारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुक्लजी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, हम उसको पार कर चुके हैं। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण हैं। किन्तु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश और नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी-साहित्य-समीक्षा कर चुकी है।"[2]

इस प्रकार से रामचन्द्र शुक्ल के पास भाषा-शैली, विचारों की सुसूत्रता, खण्डन-मण्डनात्मक वाद-विवादपूर्ण विषय-प्रतिपादन आदि गुण होते हुए भी,

१. 'चिन्तामणि', भाग २, पृष्ठ २५६।
२. 'हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ८७।

उनके निबन्ध शुद्ध आत्म-निबन्धों की कोटि में नहीं आ पाए, इसका कारण उनका कसा हुआ मर्यादावादी दृष्टिकोण था। एक कुशल निबन्ध-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह मर्यादा को कुछ तोड़े भी, कुछ उन्मुक्त उड़ान ले सके। परन्तु मैथ्यू आरनाल्ड की भाँति शुक्लजी अपने निबन्धों में अपनी शुद्धिवादिता के आग्रह से बराबर चिपटे रहे और परिणाम स्पष्ट है कि उनके निबन्धों में वह काव्यात्मकता नहीं आ पाई, वह सहज विश्रब्धालाप वहाँ लक्षित नहीं होता।

इस दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास की भाषा-शैलियाँ बहुत-कुछ तोलनीय हैं।

११. श्यामसुन्दरदास

नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संस्थापक, 'हिन्दी-शब्द-सागर' के एक सम्पादक तथा 'साहित्यालोचन', 'रूपक रहस्य' आदि ग्रन्थों के प्रणेता श्यामसुन्दरदास की प्रधान विशेषता यह रही है कि उन्होंने हिन्दी-भाषा को व्यापक बनाया। तत्सम से अधिक तद्भव रूपों पर उनका ध्यान था, चाहे वे संस्कृत के हों या उर्दू के। उन्होंने स्पष्टतः लिखा है कि—"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों।" यह दृष्टिकोण की सर्वकालता उनकी शैली को अधिक बोधगम्य बनाती है।

'साहित्य-सन्देश' के 'श्यामसुन्दरदास-विशेषांक' में लिखते हुए मैंने अनेक वर्षों पूर्व लिखा था—

"शैली-सम्बन्धी आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के मत बहुत ही प्रगतिशील और विचारणीय हैं। वाल्टर रैले ने 'शैली' पर अपने सुन्दर प्रबन्ध में पृ० १२७ पर समस्त शैली को अन्ततः मन और आत्मा की एक व्यञ्जना और संकेत-भंगिमा माना है। सौन्दर्यवादी समीक्षक वाल्टर पेटर ने गुस्ताव फ्लाबेयर के शैली को सौन्त्रा मानने के मत की विस्तृत समीक्षा करते हुए अपने 'प्रशस्तियाँ' नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय 'शैली' में पृ० १८ पर कहा है कि यदि शैली ही मनुष्य है तो शैली निश्चय निर्वैयक्तिक (इम्पर्सनल) है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने अपने 'साहित्यालोचन' में शब्द की शक्ति, गुण और वृत्ति की विस्तृत चर्चा करके वाक्य-विन्यास, पद-विन्यास, अलंकारों तथा भाषा-पद्धति के स्थान की चर्चा की है। सर्वत्र आपका दृष्टिकोण विशुद्ध भार-

तीय रहा है। एकाध स्थल पर पाश्चात्य प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक शैली-भेद का उल्लेख है; परन्तु मुख्यतः माधुर्य, ओज, प्रसाद के प्रसंगानुकूल मिश्रण तथा व्यंग्यार्थ का आधिक्य उत्तम शैली के लिए आपने आवश्यक धर्म माने हैं। स्वयं बाबूजी के निबन्धों पर इन कसौटियों को लगाने से वे पूरे उतरते हैं। यद्यपि बाबूजी के भावात्मक निबन्ध बहुत थोड़े हैं, आलोचनात्मक अधिक हैं।

'साहित्यालोचन' में आपने आधुनिक आलोचकों में प्रचलित कुछ दोषों को गिनाया है जिनका जानना आवश्यक है। १—पारिभाषिक शब्दों का अज्ञान, २—शब्द-शक्ति का अज्ञान, ३—साहित्य की आत्मा न पहचानना, ४—साहित्य की मानतुला का अनिश्चय, ५—लक्ष्य-भ्रष्ट होना, अनासक्त भाव के न रहने से पक्षपात का आना स्वाभाविक है, ६—भाषा-शैली की गहनता तथा अस्पष्टता।"

उनकी शैली का एक उदाहरण 'देवनागरी लिपि' पर उनके लेख से दे रहा हूँ—

> "देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में कुछ लोगों का आक्षेप है कि उसमें कई बातों के सुधार की आवश्यकता है। इन लोगों का कहना है कि हमारी भाषा में कई नवीन उच्चारण आ गए हैं, और उनके लिए नवीन चिह्नों का बनना आवश्यक है। दूसरे लोगों का कहना है कि हमारी लिपि में एक बड़ी भारी त्रुटि यह है कि उसमें शीघ्रता से लिखा नहीं जा सकता और छापे में बहुत अधिक अक्षरों को ढालने की आवश्यकता पड़ती है। इन आपत्तियों को महत्त्व देने के लिए यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र के भविष्य का ध्यान रखकर हम लोगों को अपनी लिपि में ऐसे सुधार करने चाहिएँ, जिससे वह समस्त देश में स्वीकृत हो सके।"

१२. माखनलाल चतुर्वेदी

भावात्मक गद्य लिखने की एक विशेष पद्धति 'एक भारतीय आत्मा' ने हिन्दी में रूढ़ की। बाद में वह गद्य-काव्य कहलाई। चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल', वियोगी हरि के भावना-कण-युक्त छोटे-छोटे लेख, रायकृष्णदास, शान्तिप्रसाद वर्मा (चित्रकार); डॉ० रघुवीरसिंह, दिनेशनन्दिनी डालमिया, जनार्दनराय नागर आदि के इस दिशा में प्रयोग इसी शाखा के प्रफुल्ल कलिका-कुसुम और फल आदि हैं। माखनलाल जी एक मँजे हुए वक्ता हैं। सूझ से भरे उनके मार्मिक वाक्य श्रोताओं के हृदय में सीधे बिंध जाते हैं। स्वामी

रामतीर्थ और अध्यापक पूर्णसिंह की जो गद्य-शैली थी उसमें की नीत्यात्मक उपदेशप्रधानता कम करके सौन्दर्य-संवेदनक्षम सूक्ष्मता और कोमलता की छटा मिलाने से माखनलालजी की गद्य-शैली की कल्पना हम कर सकते हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी ने यद्यपि 'प्रताप' और 'कर्मवीर' साप्ताहिकों में बहुत-सा लिखा है, प्रति सप्ताह और प्रति मास। और उसमें से चुनकर बहुत अच्छे-अच्छे गद्य-खण्ड सँजोये जा सकते हैं, जैसे कि स्वर्गीय गणेशशंकर, सुभद्राकुमारी चौहान और सुभाषबाबू पर उनके लिखे लेख। परन्तु इस पत्र-कारितापूर्ण साहित्यिक छटा वाले लेखन को छोड़ दें, तो भी 'साहित्य देवता' उनके गद्यकाव्यात्मक भाव-निबन्धों का एक बहुत महत्त्वपूर्ण संग्रह है। यह इस ग्रन्थ का, (हिन्दी के अन्य कई ग्रन्थों की भाँति) दुर्भाग्य रहा है कि यह प्रणयन के दो दशक बाद प्रकाशित हुआ। परन्तु उसमें की उलझी हुई, अलंकार-भारयुक्त, कहीं-कहीं दूरान्वययुक्त समस्त पदावली छोड़ दें तो उसमें की मौलिक, स्वच्छन्द कल्पना-विहारमयी गद्य-रचना आधुनिक पद्य के बहुत निकट की है। उन गद्य-खण्डों में नया उगता हुआ बलिपन्थी राष्ट्र-प्रेम, पुराना वैष्णव तथा निर्गुण अध्यात्मवादी प्रेम और काव्य की प्रतीक-संयोजना का प्रेम एकाकार हो गया है।

'साहित्य देवता' की गद्य-शैली पर मराठी के रोमांटिक कवि यथा गडकरी की सूक्ष्म ऊहा आदि रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ आदि की दृष्टान्त-बहुलता, भव्य और क्लासिकल शब्दों के साथ उर्दू और बोल-चाल के या 'भदेस' शब्दों का पचमेल उपयोग, पत्रकार की-सी प्रासंगिक घटनाओं की साधारणीकरण की ऊँचाई तक उठा ले जाने का मिरय का करतब और और देश-काल के दो खूँटों पर भावना की भीनी डोरी पर चलते हुए अपना सन्तुलन न खोने की नटगिरी के एक साथ दर्शन होते हैं।

गांधीजी पर लिखे गए उनके एक गद्य-काव्यात्मक निबन्ध का एक खण्ड ऊपर के विवेचन का प्रमाण है—

"एक वाणी है, जो झोंपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जाकर ठुकराती है और राजमहलों के अपमानों को झोंपड़ियों के सेवा-पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती है।

एक वाणी है, जो गलियों में, कूचों में, झोंपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, गुफाओं में, मीड़ों में, एकान्तों में, विजयों में, विजय-पथ की पराजयों में, 'भले भला' का स्वर लिये, बराबर सुनाई पड़ती चली आ रही है।

एक वाणी है, कि समस्त धर्मों के देव-मन्दिरों में जिसका रथ गतिशील,

जिसका पथ उन्मुक्त है—किन्तु काँपते सिंहासनों का आडम्बर है कि उस वाणी को वे न सुनें।"

हिन्दी में माखनलाल चतुर्वेदी पर आलोचनात्मक सामग्री बहुत ही कम है—न उनकी कविता पर, न उनके गद्य पर। रामवृक्ष बेनीपुरी का एक 'रेखा-चित्र' और 'दिनकर' जी की 'मिट्टी की ओर' में एक लेख या 'संगम' के उनके सम्बन्ध में प्रकाशित विशेषांक में मेरा एक लेख (जो बाद में 'व्यक्ति और वाङ्मय' में प्रकाशित हुआ।) बहुत ही अपर्याप्त सामग्री है।

यह बात सही है कि जैसे रस्किन और कार्लाइल के जमाने का गद्य अब श्रेष्ठ गद्य नहीं माना जाता, न आस्कर वाइल्ड या चेस्टरटन की विरोधा-भासप्रियता अब शैली की विशेषता में शुमार की जाती है; फिर भी उनका गद्य के विकास के इतिहास में अपना एक विशेष मूल्य है। माखनलाल चतुर्वेदी के गद्य का भी महत्त्व उसकी शैली में है, चाहे उसका अलंकरणमय उलझन-भरा रूप आज कुछ पुराना जान पड़े।

१३. गुलाबराय

बाबू गुलाबराय मूलतः दर्शन के एम० ए०, बाद में छतरपुर रियासत में बहुत दिनों तक मुलाजिम रहे, आगरा में आकर जैन-बोर्डिंग के सुपरिन्टेंडेंट, 'साहित्य सन्देश' के उसकी स्थापना से ही सम्पादक और संप्रति सेंट जान्स कॉलेज में हिन्दी-साहित्य के सम्माननीय प्राध्यापक हैं। मधुमेह और वयोवृद्धता के बावजूद उनकी मूल जिन्दादिली बराबर बनी हुई है और कभी-कभी 'फिर निराशा क्यों ?' और 'मेरी असफलताएँ' में सम्मिलित निबन्धों की भाँति एकाध व्यक्ति-निबन्ध लिख ही डालते हैं। उनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसमें का शिष्ट, संयत, सूक्ष्म परिहास है। वे अपने ऊपर भी हँस लेते हैं। उनकी भैंस, उनका भुलक्कड़पन, उनकी कई और बातों की जानकारी उनके निबन्धों से पाठकों को होती है। परन्तु संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान् होने से उनकी शैली में सन्दर्भशीलता (एल्यूजिवनेस) भी बहुत आ गया है और मूलतः दर्शन के अभ्यासक और अध्यापक होने से निबन्धों में नीति-उपदेशभरी पुट भी कम नहीं रहती।

बाबूजी की गद्य-शैली की दूसरी खूबी यह है कि वह सदा प्रसन्न, एक ही गति से चलने वाली शैली है। उसमें कहीं भी उतार-चढ़ाव नहीं। वे गुस्सा दिलाने पर भी गुस्सा नहीं होते। हर विषय का दूसरा पहलू भी देखने की सहनशीलता उनमें हमेशा मौजूद रहती है। यह अहिंसक उदारता उनके निबन्धों

को एक प्रकार की सार्वजनीन मानवीय सहानुभूति से भर देती है।

एक उदाहरण देखिए—

"विश्व-प्रेम उन्हींके लिए कठिन एवं दुस्साध्य है, जो अपनी आत्मा को पंच महाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता, किन्तु उसके मानने वाले भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का प्रयत्न किया करते हैं। वे भी पर-हित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है, तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है। जादू वही है जो सिर पर चढ़कर बोले।"[1]

यों गुलाबरायजी के उत्कृष्ट निबन्धों का संग्रह 'मन की बात' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

१४. शिवपूजनसहाय

'शिव' नाम से 'आज' में नियमित रूप से लिखे हुए निबन्धों का एक संग्रह 'कुछ' नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसकी समालोचना मैंने 'सम्मेलन-पत्रिका' में सन्' ४१ में की थी। परन्तु 'देहाती दुनिया' के उपन्यास-लेखक, 'मतवाला' से 'हिमालय' तक कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक के नाते शिव-पूजनसहाय जी का गहरा साहित्यानुभव और विशाल दृष्टि हिन्दी-साहित्य की अपनी निधि है। प्रोत्साहन की तो कहाँ तक कहें, 'आजकल' में सन्' ४६ में मेरा 'मुँह' निबन्ध छपा। देखता क्या हूँ कि 'हिमालय' में एक पृष्ठ उसकी मुहावरेसाज़ी की प्रशंसा शिवजी ने लिखी। यह गुण, कि नये लेखकों में पाई जाने वाली अच्छाइयों की बराबर दाद देते रहें, बहुत कम होता जा रहा है।

'कुछ' शीर्षक से प्रकाशित निबन्ध-संग्रह में शिवपूजनसहाय जी के निबन्धों की निम्न विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके लिए विषय-प्रधान नहीं है, कुछ भी विषय काफ़ी होता है। उनमें परिहास और व्यंग्य की पुट बरा-बर रहती है। मुहावरे की मीनाकारी और लोकोक्ति का साधन अवश्य दर्श-नीय है। यद्यपि विषय प्रासंगिक महत्त्व का या वैसे नगण्य-सा जान पड़े फिर भी वे अपनी लेखनी के चमत्कार से उसमें 'अपूर्ववस्तुनिर्माण' अवश्य कर देते हैं। शिवपूजन जी के कई उत्तम निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। सम्प्रति बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् के प्रधान मन्त्री के नाते वे 'साहित्य' त्रैमासिक का सम्पादन करते हैं।

---

१. 'विश्व-प्रेम'।

१५. डॉ० भगवानदास

माननीय श्री श्रीप्रकाश जी के पिता डॉक्टर भगवानदास एक उच्च कोटि के दार्शनिक हैं। आपकी लिखी हुई सब धर्मों के 'सार-संग्रह' की पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। चूँकि गांधीजी के सर्व-धर्म-सम-भाव की भी भित्ति वही पुस्तक है। दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर आपकी निबन्ध-रचना अधिक है। परन्तु हिन्दी में प्रासादिक शैली से उन उर्दू शब्दों का, जो हिन्दी में पच गए हैं, बहिष्कार न करते हुए आपने बहुत-सा फुटकर भी लिखा है। बंगाल के काल (सन् १९४३) के समय दिल्ली में एक बड़ा-सा यज्ञ होने जा रहा था और उसमें अन्न-धान्य की बहुत-सी राशि 'अग्नये स्वाहा' की जा रही थी तब यज्ञ-संस्था पर डॉ० भगवानदास का एक उद्धरणों सहित बड़ा ही मार्मिक लेख, 'कल्याण' के 'नारी-अंक' में आधुनिकाओं की फैशनपरस्ती के विरुद्ध लेख, और इधर शिक्षा में धर्म के महत्त्व पर लिखा गया उनका रेडियो-भाषण मेरी बात के प्रमाण हैं। डॉक्टर साहब पाश्चात्य और भारतीय दर्शन-पद्धतियों के बड़े ही विनयशील मर्मज्ञ अध्येता हैं और धर्मों के तत्त्व को ग्रहण करने में जिस लौकिक पद्धति को उन्होंने अपनाया है, उसका हमारे लौकिक प्रजातन्त्र में अपना महत्त्व है। चन्द्रहास, काशी में वे सम्प्रति अपनी वानप्रस्थ आयु व्यतीत कर रहे हैं। वयोवृद्धता के कारण यद्यपि वे कुछ नहीं कर पाते, परन्तु जिन सिद्धान्तों का जीवन में विचार किया उन्हें आचार में ढालने में सदैव निरत रहते हैं। हिन्दी के सुधारक लेखकों की कोटि में उन्हें रखना चाहिए।

१६. राहुल सांकृत्यायन

महापण्डित त्रिपिटिकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने विपुल मात्रा में लिखा है। जिसमें से 'पुरातत्त्व-निबन्धावली', 'यात्रा निबन्धावली', 'साहित्य-निबन्धावली' और उनकी दो खण्डों में प्रकाशित बृहत् आत्म-कथा 'जीवन-यात्रा' और 'नये भारत के नये नेता', 'सरदार पृथ्वीसिंह', 'स्तालिन' आदि जीवनियों में तथा अनेकानेक प्रवास-वर्णनात्मक ग्रन्थों में (यथा 'तिब्बत में तीन वर्ष', 'किन्नर देश में', 'हिमालय परिचय कई खण्ड', 'रूस में ढाई साल', 'लंका' आदि) उनके निबन्धकार के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। सरल-सहज प्रवाह-मयी भाषा, तथ्य जुटाने की और जानकारी देने की ओर विशेष झुकाव, रूढ़ि-वादिता पर प्रखर प्रहार, उदार बुद्धिवाद और कहानी कहने की-सी सीधी-सादी शैली राहुल जी के लेखन की विशेषताएँ हैं। उनकी प्रखरता देखनी हो तो

'तुम्हारी जय हो' नामक उनकी छोटी-सी पुस्तक में वह दर्शनीय है, और उनकी खोजी वृत्ति 'तिब्बत में पाई सिद्ध-परम्परा' और हिन्दी की अपभ्रंश-कविता पर उनके लेखों में दर्शनीय हैं। निरन्तर अन्वेषणा, सतत जागृत जिज्ञासा उनके व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा भाग है। उसीने उन्हें घुमक्कड़ बनाया और उनके आत्म-चरित में और उसी प्रकार से 'घुमक्कड़-शास्त्र' आदि ग्रन्थों में सूक्ष्म परिहास की बड़ी छटाएँ हैं। वे अपनी कहानियों में भी निबन्धकार की तरह से लिखते हैं, जब कि निबन्धों में भी कहानी-जैसी सुरमयता रहती है। भाषा के विषय में राहुलजी दुराग्रही नहीं हैं। उनके लिखने में जैसे संस्कृत-प्राकृत-पालि के शब्द सहज आते हैं, वैसे ही उर्दू-फारसी के या तिब्बती-रूसी तक के शब्द अपने-आप आते-जाते हैं। उनकी लेखनी ने जैसे कहीं रुकना जाना ही नहीं।

१७. वियोगी हरि

वियोगी हरि जी एक समय में कवि के नाते प्रसिद्ध थे। ब्रजभाषा के काव्य 'वीर सतसई' को मंगलप्रसाद पारितोषिक मिला था। परन्तु जब से हरिजन-सेवा के कार्य में सक्रिय रूप से वे निमग्न हो गए, साहित्य की ओर ध्यान देने का कम समय उन्हें मिल पाता है। वैसे वे बड़ी सन्त-प्रकृति के व्यक्ति हैं और अपने भावात्मक गद्य-खण्डों में उन्होंने उद्बोधनपरक ही विशेष लिखा है। तरुणों को और जीवन के हर पत्थर को सम्मुख रखकर प्रिन्स क्रोपाटकिन की पुस्तक की तरह उन्होंने छोटे-छोटे उपदेश भी दिये हैं। वे 'जीवन-साहित्य' में पहले छपे थे—

"किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन-दुःखियों की निराशा-भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल-भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ पतित, पद-दलित अछूत की छाया में उस लीला-विहारी को देखो।"

१८. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शीजी 'सरस्वती' के सम्पादक के नाते और 'पंच-पात्र', 'विश्व-साहित्य' आदि ग्रन्थों के प्रणेता आलोचक के नाते विशेष प्रख्यात हैं। आपका एक निबन्ध-संग्रह 'और कुछ' नाम से प्रकाशित हुआ है, इसमें ऐसे विषयों पर

निबन्ध हैं : 'कथा-वस्तु', 'कला का विन्यास', 'आलोक और तिमिर', 'कल्पना और सत्य', 'नरेन्द्र', 'निशाकाल', 'वरदान', 'सत्य और झूठ', 'एक चरित्र', 'दोष किसका', 'गोवर्द्धन मिश्र', 'गुड़िया', 'मोटर स्टैंड पर', 'दीपावली', 'मेरे लिए','यवनिका पतन', आदि। इन निबन्धों में कहीं संस्मरणों का आनन्द आता है तो कहीं रेखा-चित्रों का। 'कला का विन्यास' निबन्ध में एक ही कहानी गोपालराम गहमरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और प्रेमचन्द अलग-अलग तरीके से कैसे लिखते इस बात का वर्णन है। 'मोटर स्टैंड पर' एक सूचनिका (रिपोर्ताज-मात्र है। कहीं-कहीं लेखक अपने आत्मकथात्मक संस्मरण सुनाने लगता है; जैसे 'दोष किसका' या 'मेरे लिए'। कहीं निरा रेखाचित्र-सा पढ़ने को मिलता है; जैसे 'गोवर्द्धन मिश्र' में।

उनके निबन्ध-लेखक पर उनका आलोचक सदा जाने-अनजाने सवार रहता है। जैसे विशुद्ध निबन्ध-रचना वे करना ही नहीं चाहते। वे निबन्ध के द्वारा समाज-जीवन की आलोचना के विषय में अपने विचार जैसे सँजोकर रखते हैं। परिणामतः उनकी शैली भी निबन्धकार की भाँति स्वच्छन्द, मुक्त, भाव-विचार-सम्मिश्रित न रहकर बहुत-से बन्धनों और बहुत-सी मर्यादाओं में से होकर गुजरती रहती है। कहानी कहते-कहते बीच में उद्धरण दे देते हैं—"क्या आपने शेक्सपीयर की ये लाइनें नहीं पढ़ी हैं ?" 'यवनिका पतन' निबन्ध में गद्य-काव्य-जैसा भावात्मक गद्य लिखते हैं और कहीं-कहीं पत्रों के टुकड़े। कुल मिलाकर निबन्ध-जैसी कोई कटी-कटाई चीज़ उनके पास नहीं। हाँ,कथा-साहित्य के विषय में आलोचक बख्शी जी के विचार हर निबन्ध में बिखरे हुए मिलते हैं। वे सजग पाठक रहे हैं; देशी-विदेशी-साहित्य का उन्होंने अध्यवसाय पूर्वक अनुशीलन किया है, सम्पादक के नाते कई नवीनतम, कच्ची, अच्छी बुरी कृतियों को उन्हें नित्य ही पढ़ना पड़ता है। यह सब सामग्री वे रुचिकर कथापूर्ण ढंग से एकत्र कर देते हैं, वे चिन्ता नहीं करते कि इसे निबन्ध कहाँ तक माना जायगा या नहीं ?

इस उद्धरण से श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की शैली और साहित्य में उनके अभीष्ट का अच्छा अन्दाजा लगाया जा सकता है—

"जिन कथाओं का प्रभाव जितना ही अधिक स्थायी है, उतनी ही अधिक महत्ता उन कथाओं की है। कथाकार हमें कल्पना के एक मोह-जाल में डाल देता है; परन्तु कथा का अन्त हो जाने पर भी वह मोह-जाल नहीं होना चाहिए। यदि कथा पढ़ते समय हमें यह जान पड़ा कि ये सारी बातें बनावटी हैं, ये सम्भव नहीं हैं, तो तुरन्त कथा से हमारी विरक्ति हो

जाती है। कथा में स्वाभाविकता चाहिए। घटनाएँ विलक्षण हों, पर अविश्वसनीय नहीं, तभी उनसे विरक्ति नहीं होती। इसीलिए कथावस्तु चाहे जैसी भी हो, कथा के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि वह पाठकों को आकृष्ट कर सके।"

१६. रायकृष्णदास

'छाया पथ', 'पागल' आदि गद्य-काव्यों के लेखक, खलील जिब्रान के हिन्दी में प्रथम अनुवादक, प्रसाद, विनोदशंकर व्यास तथा वाचस्पति पाठक के साथ-साथ छोटी-छोटी भाव-कहानियों के लेखक, 'भारतीय चित्र-कला' तथा 'भारतीय शिल्प-कला' ग्रन्थों के कला-मर्मज्ञ प्रणेता श्री रायकृष्णदास 'भारत-कला-भवन' के अधिष्ठाता तथा काशी की साहित्यिक परम्परा के विख्यात निर्वाहक हैं। आपके अधिकतर निबन्ध कला की मौलिक विवेचना को लेकर लिखे गए हैं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'हंस', 'कला', 'प्रतीक', 'कलानिधि' आदि पत्रिकाओं में आपने अपनी खोज-बीन, स्वतन्त्र चिन्तन और सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय दिया है। आपके निबन्धों में प्राचीन भारतीय कला-मीमांसा के अध्ययन की पुट बराबर बनी रहती है।

रायकृष्णदास जी की भाषा-शैली सम्भाषण-जैसी, निष्कपट, पारदर्शी, सब प्रकार के शब्दों को यथोचित अपनाती हुई, संस्कृत, गरिमायुक्त और इतिहास-पुरातत्त्व की छटा लिये हुए होती है। एक ओर 'प्रसाद की याद'-जैसे भावभरे संस्मरण और दूसरी ओर 'राम के वन-गमन का भूगोल'-जैसे लेख आपने हिन्दी को दिये हैं। आपकी लेखन-शैली का एक उदाहरण देखिये—

"कलाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति में सहानुभूति है अतः उसकी रचना में रस होता है, रमणीयता होती है। इसीलिए कला रसात्मक है, रमणीय अर्थ-प्रतिपादक है। संस्कृत में घृणा शब्द घिन और करुणा दोनों के अर्थ में आता है। इस दुहरे अर्थ में ऊपर की समूची व्याख्या निहित है। एक ही घिनौना दृश्य एक के हृदय में नफ़रत और दूसरे के हृदय में वेदना उत्पन्न करता है।"

रायकृष्णदास जी कम लिखते हैं, यही उनका दोष है। यदि वे अपने शिल्प तथा चित्र-संग्रह के इतिहास और विकास पर ही एक ग्रन्थ लिखें तो भारतीय कला साहित्य को उनकी बड़ी देन होगी।

२०. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'निरालाजी की निबन्ध-कला' पर मेरा १९४७ में 'निराला-अभिनन्दन-ग्रन्थ' के लिए लिखा विस्तृत निबन्ध बिहार की पत्रिका 'राका' में प्रकाशित हो चुका है। 'निराला' जी के निबन्ध 'प्रबन्ध-पद्म दो भाग' तथा 'चाबुक' आदि फुटकर संग्रहों में प्रकाशित हैं। निरालाजी का उद्दाम-उच्छृङ्खल व्यक्तित्व उनके निबन्धों में भी स्पष्ट है, विशेषतः जहाँ वे खम ठोककर लड़ने पर तुल गए हैं—जैसे 'महात्माजी' और 'नेहरू से एक भेंट' में, या 'मेरे गीत और मेरी कला' में, या 'पन्त और पल्लव' में,या 'कला के विरह में जोशी-बन्धु' में। 'निराला' जी का भाव-कोमल, मानव-करुणा-संव्याप्त व्यक्तित्व भी उनके निबन्धों में निखर उठा है और 'भारतीय काव्य-दृष्टि' या 'नन्ददुलारे वाजपेयी' या 'रवीन्द्रनाथ का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' आदि निबन्धों में वह उदार भावोदात्त, पर दृढ़ व्यक्तित्व स्पष्ट है।

उनकी भाषा-शैली पर बंगला का प्रभाव साफ़ झलकता है, शब्दों के चुनाव में, वाक्य-विन्यास और विशेषणों के प्रयोग में भी। वेदान्त की बंगला-पत्रिका के सम्पादक के नाते निरालाजी ने यौवन के बहुत वर्ष बिताये हैं। वह अकाल संन्यास उनकी आत्मा में रमा है। बात वे मौलिक करते हैं, लिखना भी अनूठापन लिये होता है। वक्रोक्ति के इस आग्रह में कहीं-कहीं मुहावरा टूट जाता है, उसका हिन्दीपन छुट जाता है। संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेज़ी के उद्भट विद्वान् होने के नाते निरालाजी के साहित्यिक निबन्धों में इन भाषाओं के काव्य का गहरा अध्ययन छलक उठता है। कहीं-कहीं सूत्र-बद्ध लिखने की शैली का आग्रह वे दुराग्रह की सीमा तक ले जाते हैं और परिणाम होता है 'साहित्यिक सन्निपात'-जैसी रचनाएँ। परन्तु उस वर्तमान-धर्म वाली रचना की टीका में निराला जी ने अपने भाषा-विज्ञान, समाज-शास्त्र, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र आदि के अध्ययन का खासा परिचय दिया है।

'निराला' जी ढोंग, दम्भ, बनावट, झूठी विद्वत्ता के बहुत खिलाफ़ हैं। वहीं विद्रोही स्वर बार-बार उनके निबन्धों में फूट पड़ा है, जैसे 'फ़ैज़ाबाद साहित्य-सम्मेलन' की रिपोर्ट में। निबन्धकार निराला पर एक 'साधना' में सिद्धिनाथ तिवारी ने एक बहुत अच्छा निबन्ध लिखा था। उसका एक अंश यहाँ दे रहा हूँ जिसमें उनकी शैली के विषय में विशद् चर्चा मिलेगी, साथ ही 'निराला' जी के कई उद्धरण भी—

"निराला के निबन्ध एक उच्चकोटि के कलाकार द्वारा लिखे गए हैं— वह जो कवि का हृदय रखता है, वह जो आलोचक की बुद्धि रखता है

वह जीवन का द्रष्टा है, साहित्य का स्रष्टा भी है। हिन्दी का वह पूर्ण हिमायती है, फिर भी भाषा की गत्यात्मक सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रचलित उर्दू शब्दों से भी विरक्ति नहीं रखता। निराला हिन्दुस्थानी भाषा के समर्थक नहीं। उनके अनुसार 'जबान जब अपने भावों के व्यक्तीकरण में समर्थ-से-समर्थ होती चलती है, तब वह साधारण-से साधारण हो या नहीं उच्च-से-उच्च जरूरत होती है। भाषाजन्य बहुत-सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं जो हिन्दुस्तानी जबान को मद्दे-नजर रखते हुए दूर नहीं की जा सकती।............आप अधिकांश जनों को खुश करने के लिए हिन्दुस्तानी जुबान का प्रचार करें। यह और बात है, लेकिन भाषागत और भावगत चारुता के उदाहरण उपस्थित करते हुए उनका हिन्दुस्तानी रूप कैसा होगा, यह आपसे पूछा जाय, तो क्या आप बता सकेंगे?' निरालाजी चलती-फिरती हिन्दी के हिमायती हैं वह हिन्दी, जिसे अधिक-से-अधिक लोग समझ सकें। इनके वाक्य आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े मिलते हैं। वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं बङ्गला का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

बाहरी भाषाओं के शब्दों से हमारे कवि को आपत्ति नहीं। हाँ, उनसे हिन्दी की मूल विशेषताएँ नष्ट नहीं होती हों। उर्दू के चलते शब्दों का इन्होंने धड़ल्ले से प्रयोग किया है। 'नेहरूजी से दो बातें' शीर्षक निबन्ध में इनकी उर्दू-शैली का मुलाहिजा फरमाइए---

'जनता की जबान जो आज जनता की जबान कहलाती है, वह हजार वर्ष पहले जनता की जुबान न थी। फिर हजार साल बाद भी शायद न रहेगी। जो भाषा एक वक्त तमाम देश की जुबान थी तमाम देश के लोग उस भाषा में बातें नहीं करते थे। आज भी प्रान्त-प्रान्त, यहाँ तक की जिले-जिले के हिन्दी-भाषा-भाषी की जबान भी जुदा-जुदा है। और कोई नई जबान तैयार की जायगी और उसके डंके पर चोटें पड़ती रहेगी तो खुद-ब-खुद इस तैयार जबान को धक्का पहुँचेगा।"

लेकिन गम्भीर विषय की आलोचना करते समय भाषा में बाहरी शब्दों की एकदम न्यूनता हो जाती है---शैली संस्कृतमयी होने लगती है। पर भाषा की चुलबुलाहट हमें सभी निबन्धों में मिलती रहती है। भाव उछलते हैं तो शब्द भी उछल पड़ते हैं, वे ठिठके कि शब्द भी शिथिल हो गए। आलोचनात्मक निबन्धों की शैली फुदकती हुई चिड़िया के डगों की तरह ही है---यहाँ देखा, वहाँ देखा फिर कहीं नहीं। और हृदय में एक शाश्वत मधुरिमा अनजाने भर गई। चण्डीदास के 'यमुना जाइया श्यामेर देखिया, घरे आइलो विनोदिनी'

कविता की सरसता में डूब-डूब होकर कवि बोल उठता है—"भावुक कवि राधिका के पूर्ण राग में भावुकता को ही परिस्फुट कर रहा है। वह सौन्दर्य नहीं देख रहा है। जिस तरह उसके हृदय में आवेश है, उसी तरह राधिका के हृदय में। भाषा अत्यन्त ललित, अत्यन्त मधुर, हृदय को पार कर जाने वाली, सौन्दर्य की एक बहुत ही बारीक रेखा ही रही है।....सौन्दर्य की छटा जैसे चौथ के चाँद की मीठी चाँदनी, न बहुत उज्ज्वल न बहुत ऐश्वर्य वाली; किन्तु आकर्षक हद से ज्यादा, जैसे १३ साल की मुकुलित बालिका—न परिपक्व ज्ञान वाली, न विचारों की शिशु।"

संस्कृत शब्द-प्रधान शैली में निरालाजी को काफी सफलता नहीं मिली, भाव और भाषा की स्वाभाविक गति का वहाँ एकदम अभाव रहता है। परिश्रम से लिखी गई वह भाषा थोड़ी चकमक तो अवश्य प्रस्तुत करती है, लेकिन गति कुण्ठित हो जाने के कारण स्वाभाविक सहज बोधगम्यता की पहुँच से दूर जा पड़ती है। 'नाटक-समस्या' नामक निबन्ध की आरम्भिक पंक्ति की भाषा देखिए सिर्फ एक पंक्ति का ही उदाहरण दिया जाता है—

"आकाश की नील नीलम ताराओं से ढँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य का शीतोष्ण शुम्भितर रश्मि-पात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य, शैल-शिखरों, समुद्र-रश्मियों, अरण्यशीर्षों पर छाया-लोक, पात करते प्रतिपल बदलते हुए, दिन और रात, धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं के उठते गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण-क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति परियों-सी पंख खोलकर कलियों में खिलती, केशर-परागों से युक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आपत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुनः अज्ञात तम में अन्तर्ध्यान होकर तादात्म्य प्राप्त करती हुई, हास्य और रोदन, वियोग और मिलन; मौन तथा वीक्षण के नवरसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्गारों से जीव-जन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।"

यह शैली निराला की सर्वव्यापी शैली नहीं है। 'काव्य में रूप तथा अरूप' की शैली इनके निबन्धों का सफल प्रतिनिधित्व करती है। वहाँ यदि कोमलता है; स्निग्धता है, चुलबुलाहट है तो कटुता एवं कट्टरता भी कम नहीं। भावोन्मत्त आवेशों से भरे निबन्धों में भाषा सरल, शैली फिसलती हुई रहती है। वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं। तीव्र आवेग तीव्र गति से बढ़ता आता है। निरालाजी का बौद्धिक रूप भी कमजोर नहीं मारता, पर उसके साथ जो कवि चिपका हुआ है, वह उसे अपनी भावुकता से रोके-थामे रहता है। पण्डित

माखनलालजी के सम्बन्ध में निरालाजी द्वारा व्यक्त पंक्तियों को हम इस प्रसंग में उनके सम्बन्ध में भी स्वीकार कर सकते हैं—

"कहीं-कहीं उनकी लपेट अच्छी लगती है। अगर कोई कलाजङ्ग बाँधकर ही छोड़ दे तो उसे पूरा दाँव नहीं कहते। चलाना पड़ता है। चलने पर भी देखना पड़ता है, कैसा चला, जोर से गया या सचमुच पूरे घाट उतरा। किसी बात के कहने में यही सिद्धि कला की सिद्धि होती है।"

निराला में कहानीकार, कवि तथा निबन्धकार के तत्त्व इतने घुले-मिले हैं कि इनमें से किसी को कहीं भी अलग कर देना कठिन मालूम पड़ता है। निबन्धों में कवि के साथ-साथ कहानीकार भी अपने निखरे रूप में प्रकट दीखता है। लेख के आरम्भ में या अन्त में—एक मधुर उद्गम या मधुर लय देने के लिए—निराला ने छोटी कहानियों का प्रयोग किया है। 'चरखा' तथा 'गांधी से बातचीत' के अन्त में, 'नेहरूजी से दो बातें' के आरम्भ में तथा 'कला के विरह में जोशी बंधु' के आदि में कथानक शैली का प्रयोग मिलता है। 'सामाजिक पराधीनता' शीर्षक निबन्ध का अन्त भी एक कटु सत्य की व्यंग्यपूर्ण कहानी से होता है। इस प्रणाली से लेख में रोचकता की वृद्धि होती है।"

२१. शान्तिप्रिय द्विवेदी

शान्तिप्रिय द्विवेदी सहृदय आलोचक, सौन्दर्य पिपासु, भावुक निबन्धकार हैं। आपकी 'हिन्दी के निर्माता,' 'सामयिकी', 'साहित्यिकी', 'युग और साहित्य', 'कवि और काव्य' आदि पुस्तकों में तथा पन्तजी पर लिखे 'ज्योति-विहग' नामक विस्तृत ग्रन्थ में उनकी भावोच्छ्वसित शैली के दर्शन हो ही जाते हैं। लगता है आलोचना न लिखते हुए मानो ये गद्य-काव्य लिख रहे हों। पर इधर 'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' नामक जो दो आत्म-कथात्मक संस्मरण-प्रधान पुस्तकें आपने लिखी हैं उनमें उनकी शैली की सारी विशेषताएँ दर्शित होती हैं। उनकी शैली के उदाहरण 'पथ चिह्न' की भूमिका 'पूर्वाभास' में स्वर्गीय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने बड़ी योग्यता के साथ उद्धृत किये हैं और उन पर अपना भाष्य भी किया है—

"शान्तिप्रिय ने अपने समस्त जीवन की बीज-कथा 'पथचिह्न' में यों कही है—हम दो थे, भाई और बहन। बहन ने अपनी 'आहुति' दे डाली, मैं ही अपने 'अभिशापों की परिक्रमा' करता रह गया हूँ। क्या करूँ! अन्तर्दृष्टि पिता की तटस्थता का दाय पाकर भी संसार का 'पर्यवेक्षण' करता हूँ, बिना किये कैसे रहा जाय? अमेरिका कहता है—गॉड इज ग्रेट, बट् डॉलर

इज़ ऑलमाइटी, (ईश्वर बड़ा है, लेकिन सिक्का सर्वशक्तिमान है) भला ऐसी दुर्मति का क्या प्रतिकार करूँ ? इसी अर्थ-पूजा ने तो इतने अनर्थ मचा रखे हैं—

"वर्तमान आर्थिक माध्यम में प्रत्येक वर्ग वैश्य और प्रत्येक कर्म वेश्या-व्यापार बन गया है।"[1]

इसलिए हे "साहित्य-सङ्गीत-कला के अधीश्वरो ! देखो, आज दिशा-दिशा में ज्वाला धधक रही है, तुम्हारी सृष्टि का नन्दन-वन भस्मसात् हो रहा है। इस युग-व्यापी दावाग्नि से विकल होकर खग, मृग, मधुप, व्याघ्र : कल-कोमल कराल वन्यजीव ही नहीं, बल्कि पुच्छ-विषाण-रहित मानव-तनुधारी द्विपद पशु भी दिग्भ्रमित हो रहे हैं, सब आपस में एक-दूसरे को दलते-कुचलते, क्रन्दन-कोलाहल करते इधर-उधर अव्यवस्थित गति से आश्रय की खोज में दौड़ रहे हैं।

तुम एक कण्ठ, एकस्वर होकर कहो—प्राणित्व का आश्रय प्राणियों के भीतर है। मनुष्य अपने इस 'अन्तःसंस्थान' को भूलकर पशुओं की तरह लोभवश बाहर भटक रहा है। उसके लोभ की ही हिंस्र दृष्टि ज्वाला बनकर आज सारे अग-जग को जला रही है।"[2]

प्रवृत्ति से ब्रह्मनिष्ठ और स्वभाव से निस्पृह 'दुर्बली महाराज' इसकी प्रतीक्षा न करते कि कोई उनका आवाहन करे तो वे उपस्थित हों। उनका मन जिधर उन्मुख होता शरीर भी उधर ही जाता। किसी के यहाँ पहुँचने पर अभ्युत्थान या अभिवादन के प्रति निर्मम वे धरती या धवलासन जहाँ चाहते वहीं यथेष्ट बिराज जाते। अपरोक्ष अनुभूति के कुछ रहस्यमय सूत्र कहते और बिना अनुज्ञा लिये ही वहाँ से चल देते। उनकी इस दोहरी प्रक्रिया से बुध तो अवश्य लाभ उठाते, पर अबुध पागलपन ही समझते। विसम्भय अदैन्य का प्रार्थी मेरा सुपरिचित और श्रद्धास्पद यह ब्राह्मण दूर्वा-दल खाकर रह जाता, पर किसी के सामने दीन बनकर याचना न करता।

इन्हीं ब्राह्मण-देवता के तनुज हैं—पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी, हिन्दी के सुलेखकों में परिगणित। शान्ति पथ की निष्ठा-बुद्धि केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही उपजी, पनपी और बढ़ी है। हिन्दी में भी अब अच्छा वाङ्मय प्रस्तुत हो गया है। केवल हिन्दी-साहित्य का कोविद भी निष्णात निर्णय दे सकता है। फिर शान्तिप्रिय में अपनी नैसर्गिक प्रतिभा तो है ही।

१. पृ० ५७।
२. पृ० ८८।

बनयती बाल-विधवा बहन के सकरुण और निर्भय अनुशासन में पनपे शान्तिप्रिय में मनस्विता है, पैतृक स्वच्छन्दता और विचारशीलता भी। इनका निसर्ग तो सोलहों आने भारतीय है ही, पर संस्कार तरल और सर्वतोमुख होकर भी तटस्थ है, आत्मसंस्थ है।

मुझे सन्तोष है कि 'पथचिह्न' में यह सर्वतोमुखता बहुत-कुछ संयत होकर एकमुख हो गई है। संयम की मूर्ति और भारतीयता की प्रतिकृति बहन के 'स्मृति-चिन्तन' ने ही तो शान्तिप्रिय से संस्कृति और कला की ऐसी मञ्जुल पुस्तक लिखवाई। इस पुस्तक में भावुक मन और तत्परबुद्धि के समागम का मधुर परिपाक है। इसका क्रिया-कल्प (रचना-प्रकार) नवीन और अत्यन्त रुचिर है। इसमें कृतिकार के निर्माण-संकल्प का क्रमिक विकास और उसका रूप-विन्यास अत्यन्त मनोहर और हृदयस्पर्शी हुआ है। इसकी शैली सम्पन्न, अनुरूप, भावप्रवण तथा व्यञ्जक है। पृष्ठ-पृष्ठ पर ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं।"

शान्तिप्रिय की सबसे बड़ी विशेषता उनकी अदम्य जीवट और 'अन्तःप्रज्ञा' है। वे जन्म से 'अभाव का आसव' पीते रहे हैं। न तो कहीं नियमित रूप से उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई, न किसी व्यवसाय में वे टिककर रहे। उसके बाद भी जिस संवेदनाशील हृदय से उन्होंने जीवन और जगत् की घटनाओं को ग्रहण किया है वह देखते ही बनता है। उनके निबन्धों में एक निरन्तर ताज़गी, सरसता, सूक्तिमयता, सुन्दर शब्द-चयन की सुष्ठु सुरुचि और सजाकर रखने का अपना विशेष ढंग दिखाई देता है।

शान्तिप्रिय जी के साथ हमारा सन् १६३४ का परिचय है। 'भारत' साप्ताहिक, 'कमला', 'वीणा' आदि पत्रिकाओं में मैंने उनके कोंचने पर बहुत लिखा है। 'वीणा', के 'बापू-बा', 'रोमारोलाँ', 'कला अंक' की सारी सामग्री अनुवाद-चित्र इत्यादि मेरे ही बनाये थे।

२२. श्रीराम शर्मा

श्रीराम शर्मा मूलतः रेखाचित्रकार हैं। 'बोलती प्रतिमा' नाम के उनके स्केच संग्रह की भूमिका में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनकी शैली के बारे में कहा है—"श्रीराम शर्मा पं० पद्मसिंह शर्मा के उत्तराधिकारी हैं। जिस समय 'विशाल भारत' में श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी स्केच निकल रहे थे, उस समय पूज्य पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा था—'श्रीराम जी तो उत्तरोत्तर ग़ज़ब ढा रहे हैं। बन्दूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बैठता है, पढ़ने

वाला तड़पकर रह जाता है। नज़र से बचाने के लिए इनके कंठ पर भैरवजी का गंडा बाँध दीजिये।' पद्मसिंह शर्मा जी ने अनेक बार श्रीराम जी की शैली को 'सजीव', उनके भाव-विश्लेषण को 'मनोविज्ञान-सम्मत' और भाषा को 'विषय के अनुरूप' बतलाया था।"

हमें वह दिन अभी भी याद है जब सन् १९३७ में इक्के पर चढ़कर मैं वात्स्यायन जी के साथ (तब वे आगरे में 'सैनिक' के सम्पादक थे) बनारसीदास चतुर्वेदी जी के साथ फीरोज़ाबाद से शर्माजी के गाँव किरथरा में गया था और उनकी खेती के पपीते खाये थे। और बन्दरों के शिकार के किस्से सुने थे। शर्माजी ने अपनी मूल प्रकृति छोड़कर बाद में गाय की नस्ल और राजनीति आदि पर लिखना शुरू करके अपने साथ अन्याय तो किया ही, हिन्दी के साथ भी अन्याय किया। फिर भी रेखाचित्रकार श्रीराम शर्मा की 'बोलती प्रतिमा' हिन्दी को एक ग़ज़ब की देन है। उसकी भूमिका 'चित्रण' बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखी है। उसका अंश इसलिए दे रहा हूँ कि शर्माजी की शैली का, उसके गुण-दोषों का उसमें सम्यग् दर्शन मिल जायगा—

"श्रीरामजी की प्रभावशाली लेखन-शैली में टिहरी-गढ़वाल के वन्य का जितना हाथ है, उतना ही जमनाजी की आस-पास की भूमि का—खारों का—है, और अपने शब्द-भण्डार के लिए वे जितने हिन्दी-उर्दू-लेखकों के ऋणी हैं, उतने ही चन्दा, गोविन्दा तथा पीताम्बर के भी हैं। वन्य प्रदेशों के भ्रमण ने श्रीरामजी को प्राचीन काल के आश्रमों का क़ायल बना दिया है, और वे इस बात को भली भाँति समझ गए हैं कि भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत कण्व और विश्वामित्र के आश्रमों में ही था। एक जगह उन्होंने लिखा था—

> "पड़ाव से पश्चिम की ओर जाने में कोई मगर न मिला। इतने तड़के वसन्त ऋतु में मगर निकलते ही नहीं; पर मुझे तो शिकार के अतिरिक्त सैर और प्रकृति-दर्शन का शौक़ था। हमारे पूर्वज वन-जीवन-सेवन को जीवन और शिक्षा का मुख्य अंग समझते थे। राजा दिलीप की गोरक्षा में पुत्र की लालसा तो थी ही, पर साथ ही, लाभ में, उन्होंने जीवन के मूल मन्त्र को—सादे जीवन के रहस्य को—सीखा, और उस मन्त्र को जब उनके वंशजों ने भुलाया, तभी उनका पतन हुआ। कृष्ण का गाय चराना और ईसा तथा मुहम्मद का भेड़-बकरी चराना गहरे मानी रखता है। मुझ-जैसे क्षुद्र व्यक्ति के लिए भी वन-जीवन बड़ा लाभप्रद है। मैंने मनुष्यों के सामाजिक जीवन की जड़ें पशु-पक्षी-जीवन में पाई हैं। वास्तविक जंगली व्यक्ति का मैं तो क़ायल हूँ। मैं इस बात को मानता हूँ कि केवल षड्दर्शन से मोहन के दर्शन नहीं होते। मैं तो

वड् सवर्थ की इस बात का क़ायल हूँ कि—

'One impulse from vernal wood,
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can'.

पर चाहिए आँख वाला। मैं भी कोई आँख वाला नहीं; पर वह अन्धा हूँ, जिसको झाँई मारती है। पता नहीं, आगे और खुलती हैं, या बन्द होती हैं।"

निम्नलिखित वाक्यों की सजीवता को देखिए—

(क) "गंगा की सखी-सहेलियों में—सहायक नदियों में—यों एक-से-एक बढ़कर और मदमाती हैं। चढ़ने पर—भरी जवानी—बरसात में आनन्द-विभोर—उल्लास, नख-शिख-सौन्दर्य, आकर्षक और ग़ज़ब ढाने वाली चंच-लता की कौन प्रशंसा करे? यमुना की व्रज-केलियाँ, सरयू की अठखेलियाँ सरस्वती की अगोचरता और गद्कारी, सोनभद्र का फहराता हुआ सुनहरा चीर देखते ही बनता है; पर रामगंगा का भ्रकुटि-विलास और भाव-भंगी बेजोड़ ही हैं। गंगा महारानी की किसी भी यौवन-मदमाती सखी का यह ताव नहीं कि रिझाने की किसी भी कला में रामगंगा को हरा सके। गात की मझोली, भाव की गम्भीर रामगंगा की छटा को बरेली, मुरादाबाद, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद और हरदोई के ज़िले में देखिए। हरित तृणों की झालरदार साड़ी पहने, उभरे गात से, फुदकती और मचलती, मुड़-मुड़कर देखती और यौवन-बाढ़ में अनेक मस्त वृक्षों को बहाती रामगंगा एक विचित्र ही नदी है। अनेक मकानों को अपने गर्भ में रखती—भोजन-सा करती—मीलों तक खेतों को जलमग्न करती, मानवी नई-नवेलियों से होड़ लगाकर वह गंगा से मिलने बढ़ती है। किसी-किसी गाँव के पास तो उसे पीहर की याद आती है, और लौट-लौटकर चक्कर लगाकर घायल साँप की भाँति पलटा खाकर—कुछ ढूँढती-सी वह अपना मार्ग बनाती और गाँव को प्रायद्वीप बना डालती है।"

(ख) "थके-माँदे शरीर में नींद का नशा आ जाने से रात ढलते फिर आँख खुलने की आशा न थी और पीसने का ढेर रखा था। तोता घास भी न छील पाया था और प्रातःकाल गहरी ओस में घास छीलने का सवाल ही न था, इसलिए आधा काम—पिसाई करना ही था, इसलिए चमेली ने अपनी चक्की चलाई। दो डोकों में गेहूँ भरे रखे थे। चक्की में कौर डालकर

उसने पीसना प्रारम्भ किया। मनोव्यथा की उपेक्षा करने के लिए हत्थे को दाएँ और बाएँ हाथ से बारी-बारी से पकड़कर चक्की चलाते हुए उसने गाया—

'जंजारी जियरा
धन्धौ करत जनम खोई गयो।'

ऊपर आकाश का पाट अनेक नक्षत्रों से जटित संसार की चक्की अविचलित गति से चला रहा था। कटौरा की दीपावली के दीये अभी बुझे नहीं थे। लोगों ने खील-बताशे अभी चाब नहीं पाए थे।"

(ग) "जॉनी वाकर की बोतल खुली—घच्च; और गले के नीचे वह पेय उतरा—गटर-गटर। आँखों में सुरूर, चेहरों पर नूर और सामने सब साज-सामान। बस, आज्ञा हुई कि मुजरा जमे। पहले नाच का हुक्म हुआ और परमलू नाच का। उस्तादजी ने पलथी मारे बैठकर हाथ से गति करते हुए बोल कहे—'तक कत तक दिग तक दिग गदि कत जगत फूक तक तक दिगति जय तरा तरांग तग धिलांग धिधि धिन झझन नाड़ धिरा झनन ड़ान थू कतत कतत कत गिदिग्नाड़ ता धा।' ता धा की समाप्ति पर चौपाल की धूमिल ज्योति में बिजली-सी चमकी और विद्युत्-गति से नर्तकी ने न मालूम कितने चक्कर काटे और एकदम ऐसे रुकी कि उसकी भाव-भंगी और रुकने से ता धा का ब्रेक लग गया। 'वाह-वाह', 'खूब-खूब' की ध्वनि और सिर झुकाकर प्रशंसा-स्वीकृति के उपरान्त गाने का नम्बर आया। तबला ठनका 'धा धी धीना नाधी धीना, नातीतीना, नाधी धीना', और हारमोनियम पर उँगलियाँ चलीं स ग म प नि ध नि स स नि ध प म ग रे स और अधखुले नेत्रों, गोरी उँगलियों से लट को सँभालकर तिरछी चितवन और हाथ को आगे बढ़ाकर उसने खम्माच राग में गाया—*"राजा जानी मारो ना नयनवा के तीर।"*

२३. डाक्टर रघुबीरसिंह

सीतामऊ की रियासत के राजकुमार, मालवा के इतिहास के खोजी विद्वान् डॉक्टर रघुबीरसिंह सम्प्रति मध्य भारत से भारतीय संसद् के निर्वाचित सदस्य हैं। आपके गद्य-काव्यों के दो संग्रह 'शेष स्मृतियाँ' और 'बिखरे चित्र' नाम से प्रकाशित हुए हैं। डॉक्टर रघुबीरसिंह का 'ताजमहल'-विषयक उनका गद्य-काव्य बहुत उद्धृत हुआ है। ये भी वियोगी हरि, रायकृष्णदास आदि की शैली के भावोच्छ्वसित गद्य लिखने वाले कवि-हृदय निबन्ध-लेखक हैं।

इतिहास के अध्येता होने के कारण उनकी कल्पना पर अतीत का

गहरा रंग है। कहीं-कहीं तो वे पुनरुत्थानवादी-जैसे लगते हैं। कला के पारखी की मर्मज्ञ सौन्दर्य-ग्राही दृष्टि से उन्होंने अनुभूतियों के कणों को चुना है और उन्हें सुन्दर भाषा की हेममुद्रिका में जड़कर रख दिया है। इसी कारण उनकी रचनाएँ यद्यपि हैं तो आधुनिक काल की, परन्तु लगती हैं उन्नीसवीं सदी की-सी। भावुकताभरी कल्पना का लक्षण यह है कि वह यथार्थ की ज़मीन छोड़कर ऊपर विचारों के आकाश-वातास में अधिक मँडराती है। वही बात डाक्टर रघुबीरसिंह की शैली में है। विस्मयबोधक तथा प्रश्नबोधक विराम-चिह्नों का विशेष उपयोग इसी बात का प्रमाण है कि वे अपनी भावनाओं को संयमित रूप से व्यक्त नहीं कर पाते।

विषयों की विविधता का भी अभाव है। उनका मनोलोक रूढ़ विषयों के प्रदक्षिणा-पथ में ही मँडराता है। उनके मनोलोक में इतिहास का देवता प्रतिष्ठित है। और उसी गर्भग्रह में प्रार्थनाओं की अनुगूँज जैसे सुनाई देती है। विगत का इतना ध्यान हिन्दी के अन्य किसी निबन्धकार ने शायद ही रखा हो। परन्तु यह लिखने का ढंग पुराना पड़ चुका है।

उनके एक लम्बे गद्य-काव्य के इस अंश से उनके विचारों और शैली का पता लग सकता है—

> "आओ नाथ! बहुत दिन से उस दिन को देख रहे हैं। पुनः कब वृन्दावन वाली मुरली की वह सुमधुर ध्वनि कानों में पड़ेगी? फिर कब आपकी गीता का सन्देश हमें कर्तव्य की दिशा की ओर बढ़ायेगा? हम आशा लगाए हैं कि तुम पुनः आओगे, पुनः हमें गीता का सन्देश सुनाओगे, पुनः जीवन-संग्राम में विजय पाने का सन्मार्ग दिखाओगे।
>
> बहुत दिनों से आशा लगी है। क्या हमें पुनः गीता का सन्देश न सुनाओगे?"

२४. जैनेन्द्रकुमार

'जैनेन्द्र के विचार' मैंने सन् १९३७ में सम्पादित करके टिप्पणियों सहित प्रकाशित किये। उसकी भूमिका में निबन्धकार जैनेन्द्र पर विशेष रूप से लिखा गया है। बाद में हाल में 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'मन्थन', 'सोच विचार' और 'ये और वे' नाम से जैनेन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत जैनेन्द्र-कुमार के और भी निबन्ध उनके संग्राहक संकलित और सम्पादित किये। जैनेन्द्रकुमार हिन्दी में अपनी एक विशिष्ट शैली लेकर आये, जिस पर गांधी जी की मूल गुजराती की सुगठित, मर्मस्पर्शी, सब प्रकार के अनावश्यक का

परित्याग करने वाली, मूल पर प्रहार करने वाली शैली का गहरा प्रभाव है। जैनेन्द्र जी हिन्दी में कहानीकार और उपन्यासकार के नाते आये। उनके निबन्धों में भी उनका कहानीकार घुला-मिला हुआ है। 'राम-कथा', 'कहानी नहीं'-जैसे निबन्धों में यह कहना कठिन है कि कहानीकार कहाँ तक है और निबन्धकार कहाँ तक।

जैनेन्द्र जी की शैली के गुण हैं उनकी सरलता, सरसता, विषयों को मूल रूप में पकड़ने की तार्किक गम्भीरता, मानवी सहानुभूति से ओत-प्रोत उदारता आदि। उनके दोषों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इधर अपनी शैली के विषय में कुछ अधिक सचेष्ट और सतर्क हो जाने से उनमें एक अतिरिक्त दार्शनिकता आ गई है। अतः विषय-विवेचन उतना सर्वग्राही नहीं रह गया है। उसमें दार्शनिकता, उलझन, अधिक बढ़ गई है। परन्तु यह गौण बात है। भाषा के मामले में जैनेन्द्र जी स्वयं चूँकि लिखते नहीं परन्तु लिखाते हैं, इसलिए एक प्रकार की सम्भाषण-सुलभ धारावाहिकता अवश्य है।

प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी के रूप में जैनेन्द्र ने 'हंस' के सम्पादक के नाते साहित्य-जगत् में अधिक प्रवेश किया। पर प्रेमचन्द और उनके दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर था, इसलिए दोनों के मार्ग अलग-अलग हुए। लेखन-शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न हो गईं। यथा—

> "यहाँ एक प्रश्न याद आता है जो स्वर्गीय प्रेमचन्द से मैंने किया था। पूछा कि बताइये, आपके सारे लिखने का मूल भाव क्या है? तो सुनते ही कहा—'धन की दुश्मनी।'
>
> मैं अपने से वही पूछूँ तो उत्तर मिले, 'बुद्धि की दुश्मनी।'
>
> जानता हूँ, प्रेमचन्द ने धन फेंका नहीं, और मैं बुद्धि को किसी मोल छोड़ नहीं सकता हूँ। लेकिन मेरे अन्दर सबसे गहरी यह प्रतीति गड़ी है कि बुद्धि भरमाती है। अक्सर वह ऊपर मुँह करके श्रद्धा को खाती है। इन्द्रियों की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है। और पदार्थ-जगत् के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उसे पूरी तरह श्रद्धा के अंकुश में रहकर नीची आँख करके चलना होगा।"

२५. *सियारामशरण गुप्त*

जैनेन्द्रजी के साथ ही सियारामशरण गुप्त का नाम याद आना स्वाभाविक है। वैसे तो भारतेन्दु-काल से ही हम देख रहे हैं कि शायद मैथिलीशरण जी का एक-मात्र अपवाद छोड़कर, जिन्होंने शायद एक-दो ही निबन्ध लिखे हैं,

कोई भी ऐसा हिन्दी-कवि नहीं है जिसने गद्य में इस निबन्ध-प्रकार को न आजमाया हो। पंत-प्रसाद-निराला, महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, 'अज्ञेय' आदि सभी कवियों ने काव्यालोचन-परक निबन्ध लिखे हैं, परन्तु जैसे मैंने अपने एक निबन्ध ('हिन्दी के कवि आलोचक'[1]) में लिखा है वह आलोचना कमोबेश रूप में कविता समझने में सहायक हुई है। परन्तु व्यक्ति-निबन्ध को उसी रूप में किसी कवि ने अत्यन्त सफलता पूर्वक यदि अपनाया है तो श्री सियारामशरण गुप्त जी ने।

गुप्त जी की गांधीवादी प्रकृति की सादगी उनकी लेखनी में भी उतर आई है। 'झूठ सच' में हर चित्र के दूसरे पहलू को भी देखने की सहिष्णु अहिंसक वृत्ति, बोझाशाही आदि में यन्त्र-संस्कृति का विरोध, कविचर्या आदि में सूक्ष्म व्यंग और अन्य निबन्धों में सच्चे मानों में पाठक के साथ बतकही आदि का आनन्द हमें मिलता है। इस पुस्तक पर किये हुए रेडियो-समालोचन में 'अज्ञेय' ने इन निबन्धों की शैली की मीमांसा की है।[2] डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित 'सियारामशरण' नामक निबन्ध-संग्रह में मैंने उनकी कहानियों के बारे में विस्तार से लिखते हुए बताया है कि सौन्दर्य के सच्चे परिज्ञान के लिए जो तटस्थता आवश्यक है वह सियारामशरण में है। उनकी कहानियाँ, निबन्ध और रेखाचित्र जैसे एक ही कागज से बनाये गए चित्र हैं, उनके रंग भी एक-से हैं। वर्ण-संयोजना भी एक-सी ही है।

गम्भीर विचारक कवि के रूप में सियाराम जी जहाँ कहीं-कहीं रूखे और दुर्ज्ञेय-से हो जाते हैं, निबन्धों में ऐसा कहीं भी नहीं होता। उनका निष्कपट व्यक्तित्व, सरल भाषा में जैसे पाठकों से वार्तालाप करता जाता है। वार्तालाप में ही संस्मृतियाँ गुँथी हुई होती हैं और उन्हींमें से तत्त्व-चिन्तन का नवनीत सहज भाव से ऊपर तैरता हुआ आता है। हिन्दी की दो-तीन श्रेष्ठ निबन्ध-पुस्तकों में 'झूठ सच', 'अशोक के फूल', 'सोच-विचार' हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"तब दूसरा सुझाव मेरा यह है कि कवि के लिए स्त्री-जैसा कच-कलाप अनिवार्य हो। इस पर अपने पूर्वाधिकार से वंचित होकर स्त्रियाँ इस बात से रूठेंगी नहीं। 'बहुत देत निज गात' की नीति से उनकी अँखियाँ खुली ही होंगी। इस बात में पुरुष के लिए कुछ बाधा भी नहीं है। आशा है, वे इसे मान लेंगे। मौरा बढ़ाने के लिए अर्थात इस प्रस्ताव में कुछ काँट-छाँट

१. परिशिष्ट देखिये।

२. देखिये, 'त्रिशंकु', परिशिष्ट।

करने के लिए अपनी अँखियों के भी सुखी करने की बात उठाकर, यह आग्रह न करेंगे कि श्री कवि के लिए दाढ़ी और मूँछ अनिवार्य हों। यह भद्दी और अनुचित माँग होगी। किसी की वाजिब माँग पर ही विचार किया जा सकता है।"

सियारामशरण जी गुप्त हिन्दी-गद्य में एक नवीन प्रकार अनजाने में ले आए, जो अब रूढ़ होता जा रहा है। व्यक्तिगत निबन्ध हिन्दी की अपनी विशेष सम्पदा है।

२६. *हजारीप्रसाद द्विवेदी*

हिन्दी के आधुनिक गद्य में एक और श्रेष्ठ निबन्धकार हैं पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी। 'अशोक के फूल', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ', 'कल्पलता' उनके श्रेष्ठ निबन्ध-संग्रह हैं। मैंने 'अशोक के फूल' के 'जब दिमाग खाली रहता है' का अनुवाद मराठी साहित्यिक मासिक 'अभिरुचि' में किया था, जिसका स्वागत बहुत ही अच्छी तरह से किया गया। एक ओर हजारीप्रसाद जी का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक ज्ञान, 'जब नाखून बढ़ते हैं' या 'ठाकुर की सौगात'-जैसे निबन्धों में झलक उठता है, तो दूसरी ओर उनके प्रकृति-निरीक्षण के और अपने आस-पास के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, फूल-फल में उनकी रुचि के निर्देशक कई सुन्दर निबन्ध, जैसे 'आम फिर बौरा गये', 'शिरीष के फूल' आदि मिलते हैं। सर्वत्र उनकी मानवतावादी प्रगमनशील दृष्टि अवश्य मिलती है। कितनी प्रगल्भ और परिष्कृत, संस्कारवती और सहृदयतापूर्ण यह दृष्टि है! मध्ययुगीन साहित्य के आदान-प्रदान का चित्र जिस सुकुमारता से वह खींचते हैं, शव-साधना-जैसे विषय में भी वे अपना वही दृष्टिकोण नहीं छोड़ते। उनके लिए भूत भूत नहीं है। वह जीवित है, और औरों के लिए भी वह उतना ही रोचक और सजीव वे बना देते हैं इसीमें उनकी विशेषता है।

शैली में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। संस्कृत के प्राचीन साहित्य का अध्ययन भी झलकता है, परन्तु सहज भाव प्रधान है। अन्य संस्कृतज्ञ निबन्धकारों में वह अतिरिक्त मात्रा में और कृत्रिम जान पड़ता है। उनके निबन्ध से एक उदाहरण देखिये—

"अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना ही रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उनके रक्त के स-सार कणों को खाकर बनी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से

समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गए, साम्राज्य ढह गए और मदनोत्सव की धूम-धाम भी मिट गई। सन्तान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया।[1]

२७. भदन्त आनन्द कौसल्यायन

भदन्त आनन्द कौसल्यायन बौद्ध-भिक्षु और पर्यटक के नाते विख्यात हैं। आपने जातक की कथाओं का पालि से हिन्दी में ६ खण्डों में अनुवाद प्रकाशित किया है, जो सम्मेलन से प्रकाशित हो चुका है। उसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका आपके अध्ययन और अध्यवसाय की परिचायिका है। इसके अलावा आपने इंगरसोल, थारवेल और अम्बेदकर की मूल अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रस्तुत किये हैं। 'धम्मपद' का अनुवाद भी प्रसिद्ध है। इन गम्भीर ग्रन्थों के अलावा 'भिक्षु के पत्र' नाम से आपकी एक पुस्तक है। उसमें समय-समय पर विदेशों से लिखे पत्र संग्रहीत हैं। परन्तु यह सब रचनाएँ निबन्ध की कोटि में नहीं आतीं।

उनकी विशुद्ध निबन्ध की कोटि में आने वाली रचनाएँ 'जो मैं भूल न सका', 'जो मुझे लिखना पड़ा', 'रेल का टिकिट' आदि ग्रन्थों में हैं। ये निबन्ध भी कई प्रकार के हैं: कुछ प्रासंगिक संस्मरणात्मक रेखाचित्र हैं, तो कुछ निरी संस्मृतियाँ हैं। कुछ हास्य-व्यंग्य का पुट लिये हुए आत्म-व्यंग हैं, तो कुछ यात्रा के विवरण। जैसे राहुलजी से सम्बन्धित लेख संस्मरण की कोटि में आयेंगे तो 'वह मेरा नामराशि', 'ओम हुवाक्शुई' या 'भिक्षु उत्तम' संस्मृतियों की। बहुत-से निबन्धों में बौद्ध-दर्शन और बुद्ध भगवान्-सम्बन्धी आख्यायिकाओं और दृष्टान्तों के उद्धरण हैं। कई निबन्धों में विशुद्ध मानवीय करुणा के निराले रम्य दर्शन हो उठते हैं। 'बापू की प्रार्थना' आदि निबन्धों में कुशल व्यंग्यकार की और सात्त्विक सन्ताप की अभिव्यक्ति हुई है और कहीं-कहीं डायरी के पृष्ठों का-सा आनन्द है। उदाहरण के तौर पर 'रेल का टिकिट' ग्रन्थ का नौवाँ निबन्ध केवल आधे पृष्ठ का है। और वह यों है:

"इलाहाबाद रहता था तो उत्तर भारत के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेस, ला जर्नल प्रेस में आना-जाना होता। कभी-कभी प्रेस के मैनेजर श्री कृष्णप्रसाद दर साहब के घर भी जा बैठता। उनका ड्राइंग-रूम एक अच्छा-खासा नजा-

१. 'अशोक के फूल'।

सजाया ड्राइंग-रूम था। एक दिन डर साहब की अनुपस्थिति में मैंने देखा कि सजावट की कई चीज़ों के बीचों-बीच एक छोटी-सी जूती रखी है—पुरानी सूखी हुई। ध्यान से देखने पर उस पर रक्त के लाल निशान लगे हुए थे।

डर साहब बाहर से आए तो मैंने पूछा—"यहाँ यह छोटी-सी जूती कैसी?"

बोले—"हम जलियाँ वाला बाग (अमृतसर) गए थे। वहाँ किसी छोटे बच्चे की यह रक्त लगी जूती मिली। हम इसे उठा लाये हैं। हमारे बच्चे कुछ बड़े होंगे तो उन्हें बतलाएँगे कि देखो अंग्रेजों ने जलियाँ वाला बाग में तुम्हारे-जैसे छोटे बच्चों को भी मशीन-गन से भून दिया था।"

मैं सहम गया। उस अज्ञात नाम शहीद बालक की जूती मेरी आँखों के सामने नाच रही है। सभी जैसे शहीदों के खून की खाद से ही जलियाँ-वाला बाग के देश में आज यह भारतीय स्वतन्त्रता का फूल खिला है।

यह वह लता है जो बिना मान की रक्त की खाद के फलती-फूलती ही नहीं।"[1]

आनन्द कौसल्यायन की शैली में तीखा और गहरा व्यंग, कशाघात करने वाला बुद्धिवाद और मन को छू लेने वाली अन्तस्स्पर्शी भूत-दया एक साथ दिखाई देती है। निबन्धों के क्षेत्र में हिन्दी को उनकी देन अपूर्व है। कहीं-कहीं वे अपने गुरु राहुल जी से भी अधिक बाज़ी मार ले गए हैं, जहाँ तक निबन्ध-कला का सम्बन्ध है।

१८. वासुदेवशरण अग्रवाल

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल विख्यात संस्कृतज्ञ और पुरातत्त्वज्ञ हैं। साथ ही जनपद-संस्कृति के विषय में आपने 'मधुकर', 'लोक वार्ता', 'ब्रज-भारती' आदि पत्रिकाओं में बहुत लिखा है। आपके दो निबन्ध-संग्रह 'पृथ्वी-पुत्र' और 'माता भूमि' हैं। इन निबन्धों में गम्भीर विद्वान्, पाणिनी-कालीन भारत के अन्वेषक, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के विक्रम-विशेषांक के सम्पादक वासुदेवशरणजी के दर्शन होते हैं। उनके निबन्धों में स्थान-स्थान पर वैदिक साहित्य से समुचित उद्धरण पाये जाते हैं। लोक-भाषा के साहित्य से भी उसी प्रकार के सुन्दर उद्धरण और शब्द मिलते हैं। उन ग्राम-शब्दों का तो विशेष रूप से उन्होंने संकलन और संग्रह ही किया है। मुझे उनका कालिदास के 'मेघदूत' पर लिखा निबन्ध बहुत अच्छा लगा। और वैसा ही सुन्दर निबन्ध

१. 'उसका खून जो रंग लाया है', 'रेल का टिकिट', पृष्ठ ४२।

'पृथ्वी पुत्र' में जानपद-जीवन के पुनरुद्धार-सम्बन्धी योजनाओं का है। 'कला और संस्कृति' निबन्ध-संग्रह में वासुदेवशरण अग्रवाल जी की शिल्प-स्थापत्य-संगीत-चित्र के सम्बन्ध में नवनवीन खोज-बीन के दर्शन होते हैं। उस विषय में उनका अधिकार अन्यतम है। परन्तु आपके सब निबन्ध एक खोजी विद्वान् के निबन्ध हैं, उनमें जानकारी देने वाले का या उपदेष्टा का आसन अधिक दिखाई देता है। मित्र के साथ संलाप या सहकर्मा या सहधर्मा पाठक के साथ विश्रब्धालाप का-सा आनन्द उनके निबन्धों में इसलिए नहीं आता कि वे भाव-प्रधान कम और विचार-प्रधान अधिक हैं। इतिहास या पुरातत्त्व की शोध का उनका दृष्टिकोण सर्वोपरि है। कहीं-कहीं सूक्ष्म परिहास की छटा भी दृष्टिगोचर होती है।

२६. बनारसीदास चतुर्वेदी

बनारसीदास चतुर्वेदी कई वर्षों तक 'विशाल भारत' के सम्पादक रह चुके हैं और उस सम्पादन-काल में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम !' 'साहित्यिक-सन्निपात', 'घासलेटी साहित्य' आदि अनेक नामी-बदनामी भरे आन्दोलन वे चला चुके हैं। साहित्यिक योजनाएँ उन्हें इतनी प्रिय हैं कि हमारे एक मित्र ने उन्हें 'योजना-विहारी' कह डाला था। वे संस्मरण-रेखाचित्र लिखने में बहुत सिद्धहस्त हैं। उनके लिखे संस्मरणों के एक-दो संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं।

बनारसीदासजी की निबन्ध-शैली की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हैं : एक तो वे बहुत रोचक, मनोरंजक संस्मरण लिखते हैं। वे अपने ऊपर भी परिहास यथासमय, यथा प्रसंग कर लेते हैं। उनकी यह व्यंग-विनोद की आदत किसी को भी नहीं छोड़ती। उनकी यह ज़िन्दादिली, सबसे छेड़ करने की आदत ही उनके निबन्धों को सबसे अधिक सरसता और सप्राणता प्रदान करती है।

बनारसीदासजी की दूसरी विशेषता है अपनी रचनाओं में पत्रों के अंश, डायरी के पन्ने आदि उद्धृत करना। थोरो, इमर्सन, टाल्सटाय आदि अपने प्रिय आदर्श चिन्तकों के वे उद्धरण देते जाते हैं और इस प्रकार से रचना को गम्भीरता की पीठिका भी प्रदान करने का यत्न करते हैं। बनारसीदासजी जब कविरत्न सत्यनारायण, गणेशशंकर विद्यार्थी, दीनबन्धु एण्ड्रयूज़, गांधी जी, श्रीनिवास शास्त्री आदि के विषय में लिखते समय बड़ी ही आत्मीयता से लिखते हैं और उनके लेखन में एक भाष्यकार, एक जीवनीकार, आत्मचरित-लेखक और संस्मरण-लेखक के एक साथ दर्शन होते हैं। बनारसीदासजी

निबन्ध-लेखक से अधिक रेखाचित्रकार हैं। उनकी रचनाओं में यही गुण अधिक है। वे पत्रकार के साथ-साथ जीवनी-लेखक उत्तम बन सकते हैं। परन्तु समय-समय पर उन्होंने निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें पत्रकारों के सब गुण विद्यमान हैं। बनारसीदासजी की ग्रामीणों के प्रति सहानुभूति उनके निबन्धों में स्पष्टतः घोषित है।

बनारसीदास जी के निबन्धों में सब दुनिया-भर के दुःख-दर्द का इलाज करने वाली मसीहागिरी की जो एक लत है उसे छोड़ दें तो उनकी स्पष्ट सहानुभूति प्रगतिशील तत्त्वों के साथ है। वे प्रतिक्रिया (चाहे किसी रूप में हो)-मात्र के विरोधी हैं। गांधीवाद के मानवतावादी तत्त्व को उन्होंने ग्रहण किया, फिर भी जैसा कि 'अराजकवादी पैबंदस्टा' आदि पुस्तिकाओं से स्पष्ट है, वे अराजकवाद के सैद्धान्तिक समर्थक हैं, परन्तु भाषा और साहित्य के मामले में जरा भी स्वच्छन्दता दिखाई दे तो वे एकदम क्रुद्ध हो उठते हैं। यह परस्पर विरोधी तत्त्व उनके निबन्धों में भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इनके निबन्धों में साहित्य-गुण चाहे कम हों, परन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

२०. *महादेवी वर्मा*

श्रीमती महादेवी वर्मा (जन्म सन् १९०७) हिन्दी की विख्यात कवयित्री हैं। आपके 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' तथा 'दीपशिखा' कविता-संग्रह अपनी उच्च कोटि की रहस्यवादी गीत रचना के कारण और उसमें उनमें स्वयं अंकित सुन्दर चित्रों के कारण हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ सम्मान पा चुके हैं। आपने सन् १९३३ में प्रयाग-विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् 'चाँद' पत्रिका का सम्पादन भी किया था। सम्प्रति प्रयाग महिला विद्यापीठ की संचालिका और साहित्यकार-संसद् की प्रमुख कार्यकर्त्री हैं। हिन्दी-गद्य को आपने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक उच्च कोटि के संस्मरणात्मक निबन्ध और 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक नारी-जीवन-विषयक विचार-परिप्लुत विवेचनात्मक निबन्ध दिये हैं। आपकी शैली में आपके व्यक्तित्व की ही भाँति सरलता, सहजता और साथ ही गम्भीरता और उदार करुणाशीलता का समावेश है। एक उदाहरण देखिए—

"नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था

जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बांध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।"

महादेवी जी के निबन्धों की विशेषता है उनकी भाव-विभोर गहरी चिन्तनशील प्रवृत्ति, जिसके कारण वे विवरण में जाकर वर्णन बहुत चित्रोपम करती हैं। काव्यमयता उनके निबन्धों की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वे भी रेखाचित्र और संस्मरण की सीमा-रेखा वाले निबन्ध ही लिखती हैं, फिर भी उनके कई संस्मरणात्मक चित्र जैसे 'महाप्राण निराला' (गंगाप्रसाद पाण्डेय) की भूमिका, और उनके कई भावनात्मक निबन्ध बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। भगतिन, चीनी फेरी वाला और ऐसे ही चित्रों से भरे उनके निबन्धों की तुलना एक स्नैपशॉटों के अलबम से की जा सकती है। आप ही की शैली पर स्वर्गीय सुभद्राकुमारी चौहान ने भी कुछ रेखाचित्र लिखे थे, जो कि कहानी की ओर अधिक झुक गए।[1]

महादेवी वर्मा ने वैसे गम्भीर काव्यालोचनात्मक वक्तव्य भी अपने कविता-संग्रहों की भूमिका के रूप में लिखे हैं; उनमें सूक्ति, प्रासादिकता, तत्त्व-चिन्तन और सन्दर्भ-सौन्दर्य का संश्लिष्ट आनन्द प्राप्त होता है।

२१. लक्ष्मीकान्त झा

'चलचित्र', 'रेखाचित्र' आदि दो-चार पुस्तकों द्वारा ही श्री झा ने सिद्ध कर दिया कि हिन्दी में भी उर्दू के 'पतरस के मज़ामीन' की भाँति गुलगुला गद्य लिखने में वे पटु हैं। जीवन की दैनन्दिन घटनाओं में से कुछ चुनकर उन-पर 'अलफा आफ दि प्लाउ' की भाँति टिप्पणी करने का नरम परिहासयुक्त प्रयत्न झा के निबन्धों में है। यात्रा के भाषा की तरह से ही निबन्धों का बड़ा उपयोग है—वे आपका मनोरंजन करते जाते हैं, साथ ही आपको हल्के-से गुदगुदा देते हैं। आप क्षण-भर के लिए अपने ही दोषों की ओर देखना शुरू करते हैं। पर दोष-दिग्दर्शन से चिकोटी काटने का इरादा नहीं है, परन्तु मानवीय भाव-मात्र की कमज़ोरी की ओर देखने का एक सहज सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण है।

झा की भाषा-शैली मुहावरों से मण्डित है। उर्दू की सुहबत से वह अपरिचित नहीं है। साथ ही पूरबी की भी पुट मिलती है। सबसे बड़ी खूबी है संक्षेप में एक सशक्त चित्र-निर्माण करने की क्षमता। उनकी निरीक्षण-शक्ति

१. देखिए, 'सीधे-सादे चित्र'।

बहुत मार्मिक है और विषयों का चुनाव भी इतना अकृत्रिम है। इनके निबन्ध पढ़ते समय वह चेस्टरटन की बात सार्थक जान पड़ती है कि खूँटी प्रधान नहीं है, कपड़े प्रधान हैं। किसी भी विषय को आधार बनाया जा सकता है बशर्ते कि कुछ कहने के लिए हो। कहने का ढंग भी निबन्ध के मामले में बहुत मानी रखता है। लक्ष्मीकान्त झा के पास वह है। और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

३२. श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

श्री बेनीपुरी जी शब्दों के जादूगर हैं। 'नई धारा' के सम्पादकीय तक में तबीयत को गुदगुदाने वाली, तबीयत फड़क उठे ऐसी एक चमत्कारिकता लक्षित होती है। वे रेखाचित्र और संस्मरणनुमा निबन्ध लिखने में बहुत ही सिद्धहस्त हैं। 'चक्के पर' शब्द-चित्र में यह अंश देखिए—

> "हड़हड़ करती मोटर नदी के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी। एक बच्चा नदी के किनारे बैठा आम चूस रहा था। हड़हड़ सुनकर उसका ध्यान पुल पर गया और उसने देखा उसके ड्राइवर काका मोटर लिये आ रहे हैं।
>
> एक हाथ में गुठली और एक हाथ में छिलका लिये, मुँह में आम के रस को कण्ठ के नीचे उतारते और होंठ और गाल पर पीला रस चुहचुहाते वह ऊपर दौड़ा और चिल्लाया—का-का ...."

थोड़े से चुने हुए शब्दों में एक बड़ा सूचक चित्र उपस्थित करना बेनीपुरीजी की विशेषता है। मेरे सन् १९३३ में छपे पहले रेखाचित्र 'दानिश' और कहानी 'मोमबत्ती' का संशोधन उन्होंने ही किया था। तब वे खंडवा में 'कर्मवीर' के सहसम्पादक थे।

'विद्यापति की पदावली' के सम्पादक तथा जयप्रकाशनारायण के संस्मरणों के लेखक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी बिहार के साहित्यिक 'कर्मवीर' 'योगी' हैं। 'जनता' की भावना को उन्होंने अपनी लेखनी पर उतारा है। विचारों से समाजवादी होकर भी साहित्यिक सरसता की 'नई धारा' से वे अछूते नहीं हैं। आपके 'गेहूँ और गुलाब' ग्रन्थ में सुन्दर संस्मरणों के साथ-ही-साथ छोटे-छोटे शब्द चित्र बहुत मार्मिक हैं। 'चक्के पर' उन्हीं में से एक है। 'माटी की मूरतें' आपका विख्यात स्केच-संग्रह है। इस प्रकार के संस्मरणात्मक गद्य-शैली के धनी हिन्दी में सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, सत्यव्रत मलिक, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि अन्य बहुत थोड़े लेखक हैं। बेनीपुरी

जी की भाषा-शैली में भावोद्रेक के साथ आवश्यक बिखराव के साथ ही शब्दों और वाक्य-खण्डों का संयत, गठा हुआ प्रयोग एक अनूठी व्यंजना निर्माण करता है।

बेनीपुरी जी की लेखन-शैली का दोष यह है कि पद्मसिंह शर्मा या चतुरसेन शास्त्री, 'उग्र' और ऋषभचरण जैन की भाँति वे कहीं-कहीं अति-भावुकता से शब्दों का और विराम-चिह्नों का अतिरंजित उपयोग करते हैं। यह ठीक है कि शैली में काव्यात्मकता उसे अधिक ग्राह्य बनाती है। परन्तु केवल वही हो और उसका अतिरेक हो तो सुरुचि को कभी-कभी ठेस भी पहुँचाने की सम्भावना रहती है। भावोच्छ्वसित होना कुछ विशेष क्षणों में सम्भव है। सदा-सर्वदा व्यक्ति उस प्रकार की नाट्यमयता से आप्लावित नहीं हुआ करता। यद्यपि बेनीपुरी की लेखन-शैली का विशेष गुण और यह नाट्य-मयता पर्यायवाची हो गए हैं फिर भी आधुनिक निबन्ध में ऐसी उच्छल भावा-कुलता बहुत-कुछ व्याख्यात्मक (डिक्लेमेटरी) लगती है।

२२. यशपाल

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कहानीकार तथा उपन्यासकार यशपाल ने अपने 'चक्कर क्लब','बात-बात में बात' आदि में यद्यपि राजनीतिक व्यंग-भरे पत्रकारिता-प्रधान रहने वाले निबन्ध लिखे हैं, फिर भी उनके पास एक ऐसी सरल हृदयग्राही शैली है कि वे चाहें तो बहुत अच्छे निबन्ध लिख सकते हैं। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक भौतिकवादी, यथार्थवादी है और उन्हें चिकोटी काटने की आदत है। यह व्यंगमयता उनकी शैली का एक विशेष अंग है। बहुत मज़े-मज़े में बात करते-करते वे न जाने कब उस बात-ही-बात में गहरा मज़ाक कर जाते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"सुन लो, यह डिब्बे का गाना!"

"डिब्बे का गाना कैसा?"—ठोड़ी उठा सर्वोदयी जी ने जिज्ञासु से प्रश्न किया।

"अरे भाई जैसे डिब्बे का दूध होता है"—मौजी रूमाल से नाक पोंछते हुए बोले—"गैय्या विलायत में और दूध अपने घर में! गैय्या को बछड़ा दिखाकर पुचकारने की ज़रूरत नहीं। जब चाहा रात-बिरात डिब्बा खोल लिया, वैसे ही सुहागिन की ज़रूरत नहीं; गाने वाली बम्बई-कलकत्ता में रहे, आपका जी चाहा बिधाई लगा लिया।"

अपने हाथ का अखबार एक ओर रख मार्क्सवादी ने गम्भीरता से

कहा—"भाई, ग्रामोफोन और रेडियो से ग़रीब आदमियों का बड़ा भारी उपकार हो गया। पहले गाना, मुजरा रईसों और दरबारियों की ही चीज़ थी। हम तुम चाहते कि कोई कलावंत हमारे लिए गा दे तो अपने बस की तो बात थी नहीं। अब गाने वाला चाहे एक गाने के सो-पाँच सौ रुपये ले सकता है परन्तु आप चार पैसे का चाय का प्याला खरीदिये और गाना सुनिए मुफ्त में! यह है विज्ञान की बरकत कि आवाज़ को गले से, गीत को गाने वाले से, कला को कलाकार से अलग कर लिया।"

"लेकिन यह भी अमीरों के ही लिए है।" जिज्ञासु बोले—"ग़रीब आदमी बेचारा कहाँ ग्रामोफोन खरीद सकता है?"

इतिहासज्ञ ने भी हाथ का अखबार रख दिया और बोले—"ग़रीब आदमी ग्रामोफोन नहीं खरीद सकते, लेकिन सड़क पर टहलते-टहलते गाना तो सुन सकते हैं। फ़र्ज़ कीजिए, अकबर-शाहजहाँ का ज़माना होता। यह फिल्म में गाने वाली बीबी भी शाही महल में बन्द कर दी गई होती। हम और आप इनका गाना नहीं सुन पाते।"[1]

इसी तरह 'चक्कर क्लब' में चाय की चुस्कियों पर खासे गहरे व्यंग यशपाल जी ने किये हैं। 'मन की आँखें खोल!' नाम से वे एक और स्तम्भ इसी प्रकार का 'जनयुग', 'रानी' आदि पत्रों में लिखते रहे हैं। उनके पास एक आधुनिक निबन्धकार के लिए आवश्यक सब प्रकार का मसाला मौजूद है बशर्ते कि वे बहुत अधिक राजनीतिक दुराग्रह न रखें।

यशपाल ने आत्म-कथात्मक-संस्मरण ('सिंहावलोकन' २ भाग) और प्रवास-वर्णन (लोहे की दीवार के इस पार, उस पार) भी बहुत रोचक ढंग से लिखे हैं। कभी-कभी एकाध कहानी-संग्रह की और उपन्यास की भूमिका भी बहुत मार्के की लिखी है। उनसे हिन्दी-निबन्ध को बड़ी आशाएँ हैं।

२४. भगवतीचरण वर्मा

'नवजीवन' दैनिक, 'विचार' साप्ताहिक और 'उत्तरा' मासिक के सम्पादक के नाते भगवतीचरण जी ने कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं जो कि सब पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुए हैं। 'मुन्शी उल्फ़तराय' तखल्लुस से भी गहरे व्यंग्य और परिहास की चीजें उन्होंने लिखी हैं ऐसा सुना जाता है। 'हमारी-उलझन' आपका एक ऐसा लघु निबन्धों का संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित है। इसमें दुनिया के लोगों के विचारों से भिन्न एक विरोधाभास-भरी, कभी सारा-

१. 'बात बात में बात' पृ० ६८।

रतन उलटबाँसियाँ-सी कहने वाली, सर्वसन्देहवादी, हल्की-फुल्की, विनोदी तबीयत के दर्शन भगवतीचरण जी ने कराये हैं। वे जब कहानियाँ लिखते हैं तो उनमें ऐसी व्यंग के पुट वाली चीज़ें ज़्यादा मिलती हैं जैसे 'कवाय', 'एक पेग' और, 'एक चक्कर' है—'वर्ना हम भी आदमी थे काम के'-जैसे स्केच। व्यंग-चित्रों के चित्रण की ओर उनकी रुचि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'-जैसे उपन्यास के साहित्यिक स्वरूप के दर्शन में भी परिलक्षित होती है।

उनके निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी लघुता, पैनापन और मार्मिकता है। वे दार्शनिक गम्भीर विचार को ऐसे सहज भाव से सँजोकर रख देते हैं कि वे दैनन्दिन व्यवहार की चीज़ जान पड़ते हैं। उनके निबन्धों से मुझे मराठी लघुनिबन्धकार अनन्त काणेकर के 'दिव्याकर अन्धार' आदि निबन्ध-संग्रहों की याद हो आती है।

३५. भगवतशरण उपाध्याय

भगवतशरण उपाध्याय वासुदेवशरण जी की तरह पुरातत्त्वज्ञ, संस्कृतज्ञ और इतिहास के अध्येता हैं। परन्तु जहाँ वासुदेवजी की दृष्टि अतीतोन्मुखी और भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की ओर है, भगवतशरण जी अपने विश्व-भ्रमण से और जीवन में निरन्तर संघर्षशीलता से यह मान पाए हैं कि इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से परिचालित प्रगतिशील व्याख्या ही सही व्याख्या है। इसी दृष्टिकोण से भगवतशरण जी ने 'खून के धब्बे' 'इतिहास के पृष्ठों पर' और 'भारत की संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण'-जैसे निबन्ध-संग्रह हिन्दी को दिये। भगवतशरण जी खण्डन-मण्डनात्मक लेखन में भी अपना सानी नहीं रखते और चन्द्रबली पाण्डेय के बम्बई-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् से दिये भाषण का 'हंस' में सचोट उत्तर 'साभिप्राय''''' बहुत विख्यात है। इसी प्रकार से उनकी दो टूक समालोचनाएँ भी ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, राजनीति-विषयक निबन्धों के अलावा उन्होंने 'दो दुनिया' आदि ग्रन्थों में अपने प्रवास-वर्णन भी प्रकाशित कराये हैं। 'इंजियों के पीछे' ग्रन्थ में इतिहास को पुनः वर्तमान क्रिया-काल में मूर्त कराने की सजीव चेष्टा उपाध्यायजी ने की है। यद्यपि उन्होंने विशुद्ध आत्म-निबन्ध कम लिखे हैं, परन्तु वे वैसे निबन्ध लिख सकते हैं ऐसा उनके किसी समय लिखे गए कई रिपोर्ताज़ों से स्पष्ट होता है। 'खून के छींटे' में शूद्र, नारी, सेवक आदि के आत्म-कथात्मक निबन्ध हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के गौरव-चिह्न हैं।

४

हिन्दी-निबन्ध-कला का भविष्य

जब भी हम किसी साहित्य के बारे में या उसके विशिष्ट रूप-प्रकार के बारे में बात करते हैं और भविष्य की सम्भावनाओं की चर्चा करते हैं तब उस भाषा की परम्परा और वर्तमान स्थिति को भूलकर नहीं चल सकते। हिन्दी में, हम इस पुस्तक में पीछे देख आए हैं कि निबन्ध बहुत पुराना नहीं है। भारतेन्दु-काल से समझें तो उसकी आयु एक शती के बराबर है। आरम्भ-काल में काव्य-शास्त्र-विनोद के लिए निबन्ध लिखे जाते थे। लेखकों का अपना व्यक्तित्व था और उनके अपने अभिमत थे। बीच में मुद्रण-यन्त्र का कुछ ऐसा विस्तार हुआ कि जैसे उस भारी बेलन की चपेट के नीचे सभी लेखक एक-से 'न्यूज़ प्रिंट' हो गए। प्रयत्नपूर्वक भाषा का ऊबड़-खाबड़पन, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को एक जैसा, समतल, 'यूनिफार्म' और स्टैण्डर्ड बनाया गया है। व्यक्ति जैसे लुप्त हो गया और 'टाइप' सिर्फ रह गया। किसी भी मतवाद के आत्मचिन्तक दुराग्रह में ऐसा होना स्वाभाविक ही होता है, चाहे वह भाषा-शुद्धि या 'श्रमिकों की डिक्टेटरशिप' हो। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का और निबन्ध की उत्तम रचना का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

आधुनिक काल में आकर जब मानव के मत-विश्वास खण्डितप्राय हो गए हैं, जब वह एक प्रकार के सर्व-संशयवाद से ग्रस्त है, जब उसकी अस्मिता में दरार पड़ गई है, जब उसका आत्म-ज्ञान एक प्रकार के शून्यज्ञान का पर्याय-वाची बन गया है, तब यह समस्या और तीव्रतर रूप से सामने आती है। मानव व्यक्ति कहीं समाधान नहीं पा रहा है। ये 'वाद', ये मत, ये विश्वास जैसे सब खोखले गुम्बद हैं; उनमें से वह अपनी ही अनुगूँज अलग-अलग रूपों में सुनता है। ऐसी दशा में आंद्रे ज़ीद के शब्दों में वह आज का मानव "होटल नहीं तलाश कर रहा, पर मानो भूख खोज रहा है।" मन की इस दशा में सस्ते नुस्खे काम नहीं देते, अस्तित्व और अनस्तित्व की सूक्ष्मग्राही

कशिश मानवात्मा को मथ डालती है। इस प्रकार की मनोदशा में स्वगत-भाषा से आत्म-टिप्पणी तक निबन्ध नामक साहित्य-प्रकार अधिक विकसित होता है। व्यक्तित्व के निर्माण और शोध के साथ-साथ निबन्ध-लेखन को भी अधिकाधिक मूल्य मिलता जायगा।

हाँ, हिन्दी के निबन्धकार के यदि आज के कोई अभाव हैं तो एक ओर वह स्थायी साहित्य और निरी पत्रकारिता के मूल्यों के बीच में सन्तुलन खोता जा रहा है। क्या आलोचना के क्षेत्र में और क्या निबन्ध के, मैं शाश्वत मूल्यों की बात नहीं करता; पर चलतू-बाज़ारू हास्य या साधारणीकृत अतिसामान्य विचारों के परोसने और सापेक्ष रूप से अधिक स्थायी, रुचिकर, पौष्टिक और आनन्ददायिनी कला के बीच में मौलिक अन्तर तो है ही। लेखकों के बिजली-करण की ऐसी हालत है कि आये दिन निकट भूतकाल से अपरिचित कई लेखन-क्षेत्र में सहसा कूदकर नाम कमाने को उत्सुक क्षुद्र अहंताएँ साधना के अभाव में अपने बौनेपन में ही प्रसन्न हैं। यह आत्म-तुष्टि बहुत घातक है। और सबसे बड़ी कमी हिन्दी-निबन्ध-क्षेत्र में मुझे इसी आत्म-निरीक्षण की जान पड़ती है। इसी कारण से परिहास की जैसी उच्च इयत्ता आवश्यक है हिन्दी में नहीं दिखाई देती। व्यंग्यविच्छित्ति (विट) और बौद्धिक सूक्ष्मता का परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हिन्दी में अभी भी (क्या गद्य और क्या पद्य में) घोर वृथा भावुकता के दर्शन बराबर मिलते रहते हैं। यह गद्‌गदाश्रु उच्छ्वासाकुलता हमारी दृष्टि को धुँधला कर देती है; हमारे संकल्पों को रीढ़-हीन और लिचलिचा बनाती है। परन्तु भविष्यत् के प्रश्न अधिक कठोर और चट्टान-जैसे हैं। भविष्य की राह छायाहीन, पत्थरों की राह है।

इसी मनोभूमि के कारण भाषा-शैली पर भी प्रभाव अवश्य पड़ता है। गांधी-युग के लेखकों में से एक निबन्ध, हम यदि उठाकर देखें तो वहाँ भावुकता संदीपित है, एक प्रकार का 'शैली का चारित्र्य' हमें देखने को मिलता है। उसमें एक शान्त, एकरस, प्रवाहमय धीर-गम्भीरता भी है। उदाहरण के तौर पर यह अंश 'संभाली मुरली' से देखिये—

> 'मुरली का सुर बन्द हो गया और फिर [illegible] उठा। हम [illegible] पत्थर तोड़ते रहे। [illegible], [illegible] लाँघी, झाड़ी और [illegible] किये, सूर्यास्त को प्रणाम किया; किन्तु हृदय में एक ही भाव भरा हुआ था। [illegible]; लेकिन हृदय तो पीछे ही दौड़ रहा है, [illegible] की कृतार्थता नहीं थी, वह आगे मिलने वाली रहा है। भूत और भविष्य को एक करके जब वर्तमान काल को [illegible] करेंगे, तब वह गीत

शान्त होगा। तब तक मन्थानों की यह सनातन मुरली बजती ही रहेगी।''[१]

बात छोटी-सी है, पर काव्यपूर्ण ढंग से कही गई है। परन्तु जब यथार्थवाद आया, वह आदर्शवादी उदात्तता कम हो गई। जीवन के नग्न, ज्वलन्त प्रश्न सामने आये परन्तु हमारी मूल भावना वैसी ही रहने से ग्राम और नगर के जीवन में, पहाड़ और मैदान के रेखाचित्रों में जैसे अन्तर-सा आता गया। जो रूमानिक रंग तूलिका में भरा जाना आवश्यक था वह उतनी तीव्रता में नहीं आ सका। हमारा लेखक एक सजे-सजाए ड्राइंग-रूम का 'पेटी-बूर्ज्वा' लेखक बना रहा। वह अपने मन में घुटता रहा। समाजवाद-साम्यवाद की फिलासफी ने उनमें से किसी जन को क्षणिक सन्तोष भी दे दिया तो उसका लेखन धीरे-धीरे पत्रकारिता के प्रचार-पक्ष तक पहुँचा। कभी-कभी उसमें साहित्यिक छटा भी दिखाई दी। जैसे 'पहाड़ी कुली' का यह स्केच देखिये—

''वे मुँह-अँधेरे ही अपने मटमैले पहाड़ी गाँव से निकलते, पहाड़ की गोद से कोयला खोदते और धूप चढ़ते-चढ़ते नगर का रास्ता पकड़ते। मार्ग में चुङ्गी का कर देते और जल्दी छूट जाने के लिए घूस; और दोपहर तक नगर में पहुँच कोयला किसी व्यापारी के हाथ औने-पौने दाम लेकर बेच डालते। फिर खाने का कुछ सामान खरीद शाम को मन्द, थके पैर और शरीर लेकर लौटते। यह उनकी दिनचर्या थी।

हमने सोचा वह कोयला मण्डित देव-स्वरूप कुली कोई बड़ा उल्लास मन में ले घर पहुँचता होगा। कमल-सी पंखुड़ियों-से बड़े पलक वाली कोई रूपमती उसके स्वागत को आकुल हो बैठी होगी। धूलि-धूसरित तन लिये पुलकित बालक उसको उमंग से घेर लेते होंगे।''[२]

निबन्ध में आकर काव्य और गद्य के सर्वश्रेष्ठ पराग का एक प्रकार से सर्वोच्च संश्लेषण मिलता है। परन्तु हमने पूर्वविचार में देखा कि या तो कहीं काव्यात्मकता की ओर झुकाव अधिक हो गया है, या फिर गद्यमयता की ओर। यही बात कम-अधिक प्रमाण में केवल व्यक्तिपरक निबन्धों पर ही नहीं, पर समालोचनात्मक निबन्धों के बारे में भी कही जा सकती है। वहाँ भी एक ओर एकदम अतिरंजित शब्दावली में एकदम निन्दा-स्तुति है। या फिर ऐसी चक्करदार अधकचरी दार्शनिक शब्दावली में मीमांसाभास का सर्वदुष्ट यत्न कि पाठक के हाथ कुछ नहीं आता। निबन्ध स्केच नहीं है, संस्मरण नहीं है।

१. काका कालेलकर।
२. प्रकाशचन्द्र गुप्त।

पत्र नहीं है, गद्यकाव्य नहीं है, यात्रा-वर्णन नहीं है—और यह सब-कुछ होकर भी यह इन सबका सार है। उसमें सबके साथ किये हुए सुहृद-संलाप-का-सा आनन्द है। वह एकान्त में नहीं, एकान्तिक भी कभी नहीं हो सकता। कुछ प्रयोग इस प्रकार के व्यंग्य विनोद-भरे निबन्धों के इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पुस्तक 'खरगोश के सींग' में किये हैं। जिनकी भूमिकाओं में दो विद्वान् लेखकों की शैली के दर्शन होते हैं, जो कि स्वयमेव छोटे निबन्ध बन गए हैं। सब पर हँसना आसान है लेकिन सब पर हँसते हुए, सबकी अच्छी बातों का रस ग्रहण करने का मार्मिक कार्य कठिन है। मैं यह नहीं कहता कि मैं सर्वथा सफल हूँ पर यत्न उस दिशा में मैंने गम्भीरता पूर्वक किया है।

सन् १९४४ में परिवर्द्धित-संशोधित श्री श्यामसुन्दरदास के 'हिन्दी-साहित्य' में स्पष्ट आत्म स्वीकृति है कि "हिन्दी में अब तक निबन्धों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य सभी निबन्ध साधारण कोटि के हैं। पण्डित बालकृष्ण भट्ट और पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध हिन्दी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं हो सकते। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के निबन्धों में विचारों की योजना कहीं-कहीं विशृङ्खल हो गई है। द्विवेदीजी को सम्पादन-कार्य में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतन्त्र निबन्धों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भावात्मक निबन्ध लिखने वालों में सरदार पूर्णसिंह (सं० १९३८-१९८८) का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है, पर सरदारजी हिन्दी को छोड़कर अँगरेज़ी की ओर झुक गए और उनके केवल पाँच निबन्ध ही हिन्दी को प्राप्त हो सके। श्रीयुत गुलाबराय (जन्म सं० १९४४) और श्रीयुत कन्नोमल के दार्शनिक निबन्ध भी साधारणतः अच्छे हुए हैं। निबन्ध के क्षेत्र में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का सबसे अलग स्थान है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों पर अनेक अच्छे निबन्ध लिखे हैं। विवरणात्मक निबन्ध-लेखकों ने यात्रा, भ्रमण आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम श्रेणी का है। सारांश यह कि निबन्धों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिन्दी-साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना चाहिए।"[1]

बाबू श्यामसुन्दरदास जी का उपर्युक्त कथन अब भी बहुत-कुछ अंशों

१. 'हिन्दी-साहित्य', पृष्ठ ३२६-३२७ पंचम संस्करण १९४९ इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग।

में सही है। निबन्धों का प्रणयन अभी साधारण गति और साधारण ढंग से ही हो रहा है। यद्यपि कभी-कभी किसी 'कुटिचातन्' या विद्यानिवास मिश्र के 'छितवन की छाँह'-जैसे साहित्यिक-व्यंगमय विचार-कृटात्मक निबन्धों के दर्शन हो जाते हैं, फिर भी वह कुल मिलाकर है बहुत थोड़ा। मेरे इस छोटे-से अध्ययन से निबन्ध-कला की ओर हिन्दी के नये लेखकों और विद्यार्थियों का ध्यान अधिकाधिक खिंचे और वे इसके गुण-दोष परखकर हिन्दी के उज्ज्वल, भविष्य के अनुरूप इस भांडार को अधिक समृद्ध बनावें, ऐसी इच्छा है। हमारे पूर्व सूरियों से हमें सीख इसी अर्थ में लेनी है कि जो गलतियाँ उन्होंने जाने-अनजाने कीं उन्हींका हमें शिकार नहीं बनना है और विश्व-भर की प्रौढ़ और समुन्नत भाषाओं के साहित्य में निबन्ध की जो प्रगति और जो प्रयोग हो रहे हैं उन्हें हिन्दी में लाना है। अन्यथा केवल अतीतोन्मुखता से कार्य नहीं होगा, जैसे अतीत से कटकर एक नई जड़-हीन विश्वामित्री सृष्टि बनाने का प्रयास भी हास्यास्पद है। हिन्दी के निबन्धों को इसी सर्वगम्य सर्व-ग्राही सर्वसाधारणोन्मुख दिशा में बढ़ाना है।